

**BRAHMAVART P.G. COLLEGE, MANDHANA
KANPUR NAGAR**

प्रश्नBANK

**FOR KANPUR UNIVERSITY'S
ODD SEMESTER EXAMINATION**

B.A.V SEM (Hindi)

Paper-IST

**साहित्य शास्त्र और हिंदी आलोचना
(A010501T)**

**50+SHORT ANSWER QUESTIONS
Brief and Intensive Notes**

**Dr. Amit Kumar Dubey
Department of Hindi, Brahmavart P.G. College,
Kanpur
&
Prakhar Shukla
Research Scholar U.G.C. NET & J.R.F.**

बी.ए. पंचम सेमेस्टर
वषय- हिन्दी
प्रथम प्रश्नपत्र
साहित्य शास्त्र और हिंदी आलोचना
(A010501T)

इकाई - I : भारतीय काव्यशास्त्र

1. 'काव्य प्रयोजन' से आप क्या समझते हैं? वस्तुतः से समझाइए।

काव्य प्रयोजन का अर्थ है 'काव्य रचना से प्राप्त फल' या उद्देश्य। संसार का कोई भी कार्य बिना कारण या उद्देश्य के नहीं होता, अतः सृजक (कव) और पाठक दोनों के लिए काव्य से जुड़ने का एक निश्चित उद्देश्य होता है। काव्य-रचना के उपरान्त जो अंतिम परिणाम या फल प्राप्त होता है, उसे ही काव्यशास्त्र में 'काव्य प्रयोजन' कहा जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में व भन्न आचार्यों ने काव्य के प्रयोजनों पर वस्तुतः वचार कया है:

- आचार्य भरतमुनि: इन्होंने 'नाट्यशास्त्र' में धर्म, यश, आयु, हित, लोकोपदेश (बुद्धि-वृद्धि) और 'वश्रामजनन' (थकान व क्लेश दूर कर मनोरंजन/आनंद देना) को मुख्य प्रयोजन माना है।
- आचार्य भामह: इनके अनुसार काव्य का प्रयोजन चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति, कलाओं में निपुणता, कीर्ति (यश) और प्रीति (आनंद) प्राप्त करना है।
- आचार्य वामन: इन्होंने काव्य के दो प्रयोजन बताए— 'दृष्ट' (प्रीति या आनंद) और 'अदृष्ट' (कीर्ति या यश)।
- आचार्य मम्मट: 'काव्यप्रकाश' में मम्मट द्वारा बताए गए छह प्रयोजन सर्वाधिक प्रामाणिक माने जाते हैं— 1. यश की प्राप्ति (काव्यं यशसे), 2. धन की प्राप्ति (अर्थकृते), 3. लोक-व्यवहार का ज्ञान (व्यवहार वदे), 4. अमंगल या रोगों का नाश (शवेतरक्षतये), 5. तुरंत प्राप्त होने वाला परमानंद (सद्यः परनिर्वृत्त), और 6. कांता (पत्नी) के समान मधुर उपदेश (कांतासम्मिततयोपदेशयुजे)।

व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो काव्य का सबसे प्रमुख और श्रेष्ठ प्रयोजन 'लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति' और 'लोक कल्याण' ही है।

2. 'काव्य लक्षण' कसे कहते हैं? कन्हीं दो प्रमुख आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषा लखए।

'लक्षण' का अर्थ कसी वस्तु या व्यक्ति का वह विशेष गुण या पहचान का चह्न है जो उसे अन्यो से अलग करता है। साहित्य के संदर्भ में 'कवता क्या है?' या 'काव्य कसे कहेंगे?'—इस मूलभूत प्रश्न का स्पष्ट और सुनिश्चित उत्तर देना ही 'काव्य लक्षण' कहलाता है। काव्य लक्षण के माध्यम से काव्य के स्वरूप और उसकी विशेषताओं को परिभाषक रूप में प्रस्तुत कया जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र के दो प्रमुख आचार्यों के अनुसार काव्य की परिभाषाएँ निम्न लखत हैं:

- आचार्य भामह के अनुसार:

आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ के सामंजस्यपूर्ण सहभाव को काव्य माना है। उनकी प्रसिद्ध परिभाषा है: "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।"

अर्थात्, शब्द और अर्थ का समान व उचित सहभाव ही काव्य है। भामह के अनुसार काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्व होता है; दोनों में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा और सामंजस्य होता है, जिससे काव्य में चारुत्व (सौंदर्य) की निष्पत्ति होती है।

- आचार्य वश्वनाथ के अनुसार:

आचार्य वश्वनाथ ने केवल शब्द और अर्थ को काव्य न मानकर 'रस' को काव्य का आवश्यक अंग माना। उनकी परिभाषा है:

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"

अर्थात्, रसात्मक वाक्य ही काव्य है। उनका मानना था कि केवल सुंदर शब्दों को एक साथ रख देने से काव्य नहीं बन जाता; जब वे शब्द एक वाक्य का रूप लें और वह वाक्य 'रसात्मक' हो (अर्थात् पाठक को रस या आनंद प्रदान करे), तभी वह वास्तविक काव्य कहलाता है।

3. 'काव्य हेतु' (काव्य रचना के कारण) का अर्थ बताते हुए इसके प्रमुख भेदों का वर्णन कीजिए।

'हेतु' का शाब्दिक अर्थ 'कारण' है; अतः 'काव्य हेतु' का तात्पर्य काव्य की उत्पत्ति के कारणों या साधनों से है।

जिस शक्ति, साधन या सामर्थ्य के कारण कोई व्यक्ति काव्य की रचना करने में समर्थ होता है, उसे 'काव्य हेतु' कहा जाता है। बाबू गुलाबराय के अनुसार, "हेतु का अन्वेषण उन साधनों से है जो कवि की काव्य-रचना में सहायक होते हैं।"

भारतीय काव्यशास्त्र में मुख्य रूप से काव्य के तीन प्रमुख हेतु (भेद) माने गए हैं:

1. प्रतिभा: यह सबसे प्रमुख, जन्मजात और स्वाभाविक शक्ति है। आचार्य वामन इसे 'कवित्व का बीज' मानते हैं। यह वह नैसर्गिक शक्ति है जिसके बल पर कवि नए भावों और अपूर्व शब्दों का सृजन करता है। इसके बिना काव्य रचना संभव नहीं है।
2. व्युत्पत्ति (निपुणता): व्युत्पत्ति का अर्थ है 'ज्ञान की उपलब्धि' या बहुज्ञता। यह ज्ञान लोक-व्यवहार, शास्त्र (छंद, व्याकरण, कला), इतिहास और महाकाव्यों के निरंतर अध्ययन और निरीक्षण से प्राप्त होता है।
3. अभ्यास: काव्य-निर्माण का निरंतर प्रयास करना 'अभ्यास' कहलाता है। पूर्व कवियों और आचार्यों के निर्देशों को समझकर बार-बार यत्नपूर्वक कविता लिखने का प्रयास करना इस श्रेणी में आता है।

4. प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का 'काव्य हेतु' के रूप में क्या महत्व है? स्पष्ट करें।

काव्य-सृजन में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—इन तीनों का समन्वित रूप से अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

इनका पृथक-पृथक महत्व इस प्रकार है:

- प्रतिभा का महत्व (मूल हेतु): प्रतिभा काव्य का प्राण और 'क वत्व का बीज' है। आचार्य भट्टतौत इसे "अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा" (अनोखी सृष्टि करने की क्षमता) मानते हैं। आचार्य अ भनवगुप्त के अनुसार यह "नवनवोन्मेषशा लनी प्रज्ञा" है जो नित नए वचार उत्पन्न करती है। इसी शक्ति के बल पर क व साधारण वषयों को भी सरस और आकर्षक बना देता है। प्रतिभा के बिना रचा गया काव्य उपहास्य (मज़ाक का पात्र) बन जाता है।
- व्युत्प त्त का महत्व (उ चत-अनु चत का ववेक): व्युत्प त्त या निपुणता क वता को सुव्यवस्थित और दोषरहित बनाती है। शास्त्रों, व्याकरण और लोक-व्यवहार के ज्ञान से क व को यह ववेक प्राप्त होता है क कहाँ कस शब्द या अर्थ का प्रयोग उ चत है। यह क व को भटकाव से बचाकर उसकी रचना को गरिमा प्रदान करती है।
- अभ्यास का महत्व (कौशल और परिष्कार): अभ्यास क व की कला में चमक और निखार लाता है। आचार्य दंडी ने अभ्यास को इतना अ धक महत्व दिया है क यदि कसी में जन्मजात प्रतिभा कम भी हो, तो वह निरंतर शास्त्र-श्रवण और अभ्यास के बल पर भी काव्य रचना में कुशल हो सकता है।

5. काव्य के स्वरूप पर वस्तार से प्रकाश डालें।

काव्य का स्वरूप मानव मन की सूक्ष्म और तीव्र अनुभूतियों की कलात्मक अ भव्यक्ति पर आधारित है। क व के द्वारा रची गई कृति को ही 'काव्य' कहा जाता है। यह केवल शब्दों का समूह नहीं है, बल्कि रमणीय अर्थ और रसात्मकता से पूर्ण एक जीवंत रचना है, जो श्रोता या पाठक के हृदय को आनंदित करती है। आचार्य वश्वनाथ ने इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है— "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" (रसात्मक वाक्य ही काव्य है)।

इंद्रिय ग्राह्यता (सुनने और देखने) के आधार पर काव्य के स्वरूप को मुख्यतः दो वस्तुतः भागों में बाँटा गया है:

1. श्रव्य काव्य: वह काव्य जिसका रसास्वादन कानों से सुनकर या पढ़कर किया जाता है, श्रव्य काव्य कहलाता है। शैली के आधार पर इसके तीन भेद होते हैं: गद्य, पद्य और चम्पू (गद्य-पद्य म श्रत)। पद्य काव्य के अंतर्गत दो प्रमुख उपभेद आते हैं:

- प्रबंध काव्य: इसमें कोई कथा एक निश्चित क्रम और श्रृंखलाबद्ध तरीके से चलती है। इसके भी दो रूप हैं:
 - महाकाव्य: इसमें कसी महापुरुष के संपूर्ण जीवन का वस्तुतः, सर्गबद्ध और रसात्मक चित्रण होता है (जैसे- रामचरितमानस)।
 - खंडकाव्य: इसमें नायक के जीवन की कसी एक प्रमुख घटना या अंश का मा र्मक चित्रण होता है (जैसे- पंचवटी)।
- मुक्तक काव्य: इसमें कथा का कोई क्रम नहीं होता। इसका प्रत्येक छंद अपने आप में पूर्ण, स्वतंत्र और अर्थवान होता है (जैसे- कबीर, तुलसी, बिहारी के दोहे)।

2. दृश्य काव्य: वह काव्य जिसका रसास्वादन आँखों से देखकर और कानों से सुनकर किया जाता है, दृश्य काव्य कहलाता है। इसमें नट-नटी (अ भनेता) अपनी वेशभूषा, आकृति और अ भनय के माध्यम से दर्शकों के हृदय में रस का संचार करते हैं। नाटक, एकांकी, रूपक आदि इसी काव्य के अंतर्गत आते हैं। संक्षेप में, काव्य का स्वरूप अत्यंत व्यापक है, जो मानवीय संवेदनाओं को श्रव्य और दृश्य रूपों में प्रस्तुत कर अलौकिक आनंद की सृष्टि करता है।

6. 'काव्य की आत्मा' से क्या तात्पर्य है? इस विषय पर भारतीय आचार्यों के विचार लें।

'काव्य की आत्मा' से तात्पर्य उस मूल, सर्वप्रमुख और प्राणदायक तत्त्व से है, जिसके बिना किसी रचना को 'काव्य' नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार आत्मा के अभाव में शरीर मात्र एक निर्जीव ढाँचा रह जाता है, उसी प्रकार काव्य की आत्मा के बिना शब्दों और अर्थों का समूह एक साधारण वाक्य मात्र रह जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में 'काव्य की आत्मा' की खोज एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। विभिन्न आचार्यों ने अपने चिंतन के आधार पर अलग-अलग तत्त्वों को काव्य की आत्मा माना है, जिससे छह प्रमुख संप्रदायों का विकास हुआ:

1. रीति संप्रदाय: आचार्य वामन ने रीति (व शष्ट पद-रचना) को काव्य की आत्मा माना है— "रीतिरात्मा काव्यस्य।" उनके अनुसार पदों की गुणयुक्त और सुंदर व्यवस्था ही काव्य का प्राण है।
2. वक्रोक्ति संप्रदाय: आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति (चमत्कारपूर्ण या कलात्मक उक्ति) को काव्य का जीवत तत्त्व माना है— "वक्रोक्तिः काव्यजीवतम्।" सीधे-सादे कथन के बजाय घुमावदार और आकर्षक कथन ही काव्य को श्रेष्ठ बनाता है।
3. ध्वनि संप्रदाय: आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि (व्यंग्यार्थ या छिपे हुए अर्थ) को काव्य की आत्मा घोषित किया— "काव्यस्यात्मा ध्वनिः।" उनके अनुसार, जहाँ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी व्यंग्यार्थ हो, वही उत्तम काव्य है।
4. रस संप्रदाय: आचार्य विश्वनाथ (तथा अप्रत्यक्ष रूप से भरतमुनि और अभिनवगुप्त) ने 'रस' को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। बिना रस (आनंद) के कोई भी रचना मृत के समान है।
5. औचित्य संप्रदाय: आचार्य क्षेमेंद्र ने 'औचित्य' (उचित स्थान पर उचित तत्त्व का प्रयोग) को काव्य का प्राण माना है— "औचित्यं रसस्य स्थिरं काव्यस्य जीवतम्।"
6. अलंकार संप्रदाय: आचार्य भामह और दंडी जैसे प्रारंभिक आचार्यों ने 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व माना था, हालाँकि बाद के आचार्यों ने इसे काव्य का बाह्य आभूषण माना, आत्मा नहीं।

निष्कर्षतः, यद्यपि विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग तत्त्वों को प्राथमिकता दी, किंतु समग्र रूप से 'रस' और 'ध्वनि' को ही काव्य की वास्तविक और सर्वमान्य आत्मा के रूप में सर्वाधिक स्वीकृति प्राप्त हुई है।

इकाई - II : भारतीय काव्य सद्धांत

7. 'अलंकार सद्धांत' क्या है? क वता में अलंकारों का क्या महत्व है?

अलंकार सद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र का एक प्राचीन और अत्यंत महत्वपूर्ण संप्रदाय है।

- अर्थ एवं परिभाषा: 'अलंकार' शब्द 'अल्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय जोड़ने से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है— आभूषण या अलंकृत करना (अलंकरोति इति अलंकारः)। जिस प्रकार आभूषण शारीरिक सौंदर्य को बढ़ाते हैं, उसी प्रकार अलंकार काव्य के सौंदर्य (चारुत्व) को बढ़ाते हैं।
- प्रमुख आचार्य: आचार्य भामह को इस सद्धांत का प्रवर्तक माना जाता है। उनके अतिरिक्त दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट प्रमुख अलंकारवादी आचार्य हैं।
- सद्धांत की मूल मान्यता: अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य का सर्वस्व और अनिवार्य धर्म माना है। आचार्य दण्डी के अनुसार, "काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते" अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म ही अलंकार हैं। आचार्य भामह का मानना है कि "न कान्तमपि निर्भूषं वभाति वनिता ननम्" अर्थात् जिस प्रकार आभूषणों के बिना सुंदरी का मुख शोभा नहीं देता, वैसे ही अलंकारों के बिना काव्य शोभा नहीं हो सकता।
- क वता में अलंकारों का महत्व:
 1. सौंदर्य वृद्धि: अलंकार काव्य में चमत्कार और रमणीयता उत्पन्न करते हैं, जिससे क वता आकर्षक और प्रभावोत्पादक बनती है।
 2. अभिव्यक्ति में स्पष्टता: ये भावों को अधिक प्रभावशाली, स्पष्ट और हृदयग्राही रूप में श्रोता तक पहुँचाने में सहायक होते हैं।
 3. काव्य का अनिवार्य तत्त्व: प्रारंभिक आचार्यों के अनुसार, रस, गुण आदि भी अलंकार के ही वस्तुतः रूप हैं; बिना अलंकार के उत्कृष्ट काव्य की कल्पना असंभव है।

8. 'रीति सद्धांत' की सरल शब्दों में व्याख्या कीजिए और इसके प्रकार बताइए।

रीति सद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र का एक प्रमुख संप्रदाय है, जिसका मुख्य संबंध काव्य की बाह्य संरचना और शैली से है।

- अर्थ एवं प्रवर्तक: 'रीति' शब्द का सामान्य अर्थ है— मार्ग, ढंग, शैली या प्रणाली। इस सद्धांत के प्रवर्तक 8वीं शताब्दी के आचार्य वामन हैं।
- सद्धांत की मूल मान्यता: आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए सूत्र दिया है— "रीतिरात्मा काव्यस्य"। उन्होंने रीति को परिभाषित करते हुए लिखा है, "व शब्दा पदरचना रीतिः" अर्थात् पदों (शब्दों) की व शब्द रचना ही रीति है। यह व शब्दता काव्य के 'गुणों' (माधुर्य, ओज, प्रसाद) पर आधारित होती है।
- रीति के प्रकार: आचार्य वामन ने गुणों के आधार पर रीति के मुख्य रूप से तीन प्रकार माने हैं:

1. वैदर्भी रीति: यह समग्र गुणों (वशेषकर माधुर्य और सौकुमार्य) से युक्त होती है। इसमें कोमल वर्णों का प्रयोग होता है और समास का पूर्णतः अभाव या अत्यंत कम समास होते हैं। यह शृंगार और करुण रस के लिए सर्वाधिक उपयुक्त मानी जाती है।
2. गौड़ी रीति: यह ओज और कांति गुणों से संपन्न होती है। इसमें महाप्राण, संयुक्त वर्णों और लंबे-लंबे समासों का प्रयोग अधिक होता है। यह वीर, रौद्र और भयानक रसों की अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त है।
3. पांचाली रीति: यह माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से युक्त होती है, लेकिन इसमें वैदर्भी और गौड़ी का मध्य मार्ग अपनाया जाता है। इसमें छोटे-छोटे समासों का प्रयोग होता है और यह कोमल भावों को व्यक्त करने में सहायक होती है।

9. 'रस सद्धांत' से आप क्या समझते हैं? वस्तुतः समझाइए।

रस सद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन, मनोवैज्ञानिक और सर्वमान्य सद्धांत है।

- रस का अर्थ: 'रस' का शाब्दिक अर्थ है 'आनंद' (रस्यते इति रसः— जिसका आस्वादन किया जाए, वही रस है)। काव्य को पढ़ने, सुनने या नाटक को देखने से पाठक/दर्शक को जो लोकोत्तर (अलौकिक) आनंद प्राप्त होता है, उसे ही रस कहते हैं।
- सद्धांत के प्रवर्तक: रस सद्धांत के आदि प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि हैं, जिन्होंने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में रस का वस्तुतः वर्णन किया है।
- रस सूत्र: भरतमुनि ने रस निष्पत्ति का एक अत्यंत प्रसिद्ध सूत्र दिया है: "वभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"। अर्थात्, वभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।
- काव्य की आत्मा: आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा है, "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" (रसात्मक वाक्य ही काव्य है)। बिना रस के कविता निर्जीव शरीर के समान है।
- रस की अलौकिकता: रस कोई भौतिक या सांसारिक आनंद नहीं है, बल्कि इसे "ब्रह्मानंद सहोदर" (ईश्वरीय आनंद के समान) माना गया है। 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया के द्वारा दर्शक या पाठक अपनी व्यक्तिगत सीमाओं (राग-द्वेष) से मुक्त होकर सार्वभौम आनंद की अनुभूति करता है। यही कारण है कि शोक (करुण रस) या भय (भयानक रस) जैसी दुःखद स्थितियों का काव्य में वर्णन भी पाठक को परम आनंद ही प्रदान करता है।

10. रस के प्रमुख अंगों (स्थायी भाव, वभाव, अनुभाव, संचारी भाव) का वर्णन कीजिए।

आचार्य भरतमुनि के रस सूत्र ("वभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः") के आधार पर रस के चार प्रमुख अंग (अवयव) माने गए हैं:

1. स्थायी भाव: मानव हृदय में जो भाव सदा सुप्त या स्थायी रूप में वद्यमान रहते हैं और अनुकूल परिस्थिति (कारण) पाकर जागृत हो जाते हैं, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। प्रत्येक रस का एक निश्चित

स्थायी भाव होता है (जैसे- शृंगार का रति, करुण का शोक, वीर का उत्साह)। इनकी कुल संख्या 9 (या 11) मानी गई है।

2. वभाव: स्थायी भावों को जगाने वाले कारणों को 'वभाव' कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं:
 - आलंबन वभाव: जिसका सहारा पाकर स्थायी भाव जागृत हो (जैसे शकुंतला को देखकर दुष्यंत के मन में रति भाव का जगना; यहाँ शकुंतला आलंबन है)।
 - उद्दीपन वभाव: जो बाहरी वातावरण या चेष्टाएँ जागृत भाव को और अधिक तीव्र (उद्दीप्त) करती हैं (जैसे- एकांत स्थान, चाँदनी रात, कोयल की कूक)।
3. अनुभाव: 'अनु' का अर्थ है 'पीछे' अर्थात् भावों के जागृत होने के पश्चात् आश्रय (जिसके मन में भाव जगा हो) की जो शारीरिक या मानसक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। (जैसे- क्रोध में आँखें लाल होना, दुःख में रोना)। इसके चार प्रकार हैं: कायिक (शारीरिक), वाचक (वाणी द्वारा), आहार्य (वेशभूषा) और सात्विक (स्वतः उत्पन्न)।
4. संचारी भाव (व्यभिचारी भाव): ये पानी के बुलबुलों के समान उठने और मटने वाले अल्पकालिक भाव हैं। ये स्थायी भावों को पुष्ट करने में सहायक होते हैं। इनकी कुल संख्या 33 मानी गई है (जैसे- शंका, लज्जा, हर्ष, ग्लानि, स्मृति आदि)।

11. 'ध्वनि सद्धांत' क्या है? आचार्य आनंदवर्धन के वचारों के आधार पर समझाइए।

ध्वनि सद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र का एक अत्यंत सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक और उत्कृष्ट सद्धांत है।

- प्रवर्तक: इस सद्धांत के प्रवर्तक 9वीं शताब्दी के महान आचार्य आनंदवर्धन हैं, जिन्होंने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में इसकी स्थापना की।
- सद्धांत की मूल मान्यता: आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए स्पष्ट किया— "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"।
- ध्वनि का अर्थ: जहाँ शब्द का वाच्यार्थ (सीधा/मुख्य अर्थ) गौण हो जाए और 'व्यंग्यार्थ' (छिपा हुआ या प्रतीकात्मक अर्थ) प्रधान हो जाए, उसे 'ध्वनि' या उत्तम काव्य कहते हैं। आनंदवर्धन के अनुसार, जिस प्रकार किसी सुंदर स्त्री के शारीरिक अंगों से अलग एक विशेष 'लावण्य' (आकर्षण) होता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ काव्य में शब्दों के सीधे अर्थ से अलग एक 'प्रतीयमान अर्थ' (व्यंग्यार्थ) होता है, जो सहृदय पाठक को आनंदित करता है।
- ध्वनि के प्रकार: आनंदवर्धन ने व्यंग्यार्थ के आधार पर ध्वनि के तीन प्रमुख भेद माने हैं:
 1. वस्तु ध्वनि: जहाँ व्यंग्यार्थ के रूप में कोई तथ्य या वचार (वस्तु) ध्वनित हो।
 2. अलंकार ध्वनि: जहाँ व्यंग्यार्थ के रूप में कोई अलंकार (जैसे उपमा, रूपक) ध्वनित हो।
 3. रस ध्वनि: जहाँ व्यंग्यार्थ के रूप में किसी 'रस' (आनंद) की अनुभूति हो।
- आनंदवर्धन और उनके टीकाकार अभिनवगुप्त ने 'रस ध्वनि' को ही काव्य की वास्तविक और सर्वश्रेष्ठ आत्मा स्वीकार किया है। उत्कृष्ट कविता वही है जिसमें शब्द और अर्थ स्वयं को गौण करके एक चमत्कारी अर्थ (ध्वनि) को प्रकट करें।

12. 'औ चत्य सद्धांत' का अर्थ और काव्य में इसकी आवश्यकता पर प्रकाश डालें।

भारतीय काव्यशास्त्र में 'औ चत्य सद्धांत' एक अत्यंत महत्वपूर्ण, व्यापक और समन्वयकारी सद्धांत है।

इस सद्धांत के स्वतंत्र और व्यवस्थित प्रवर्तक 11वीं शताब्दी के आचार्य क्षेमेन्द्र माने जाते हैं।

औ चत्य का अर्थ: 'औ चत्य' का शाब्दिक अर्थ है— 'उ चत होने का भाव' या 'उपयुक्तता'। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि जो जिसके अनुरूप या योग्य होता है, उसे 'उ चत' कहते हैं; और इसी उ चत होने के भाव को 'औ चत्य' कहा जाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औ चत्य को काव्य का प्राण (जी वत तत्त्व) मानते हुए अपना प्रसद्ध सूत्र दिया है: "औ चत्यं रस सद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जी वतम्।" अर्थात्, रस से परिपूर्ण (सद्ध) काव्य का स्थिर प्राण या जीवन 'औ चत्य' ही है।

काव्य में औ चत्य की आवश्यकता एवं महत्व: काव्य-सृजन में औ चत्य की आवश्यकता और महत्व निम्न लक्ष्य बिंदुओं से स्पष्ट होता है:

1. रस-निष्पत्ति व रक्षण में सहायक: काव्य का सर्वोच्च लक्ष्य 'रस' (आनंद) की प्राप्ति है। रस की पूर्ण अभिव्यक्ति तभी संभव है जब वभाव, अनुभाव और संचारी भावों का प्रयोग पूरी तरह से उ चत और प्रसंगानुकूल हो। औ चत्य के अभाव में 'रस-भंग' (रस का नाश) हो जाता है।
2. काव्य-तत्त्वों का नियंत्रक: अलंकार, गुण, रीति और शब्द-चयन आदि तत्त्व तभी काव्य की शोभा बढ़ाते हैं, जब उनका प्रयोग उ चत स्थान पर हो। यदि ओज गुण के प्रसंग में माधुर्य का या शृंगार रस में कठोर वर्णों का प्रयोग किया जाए, तो वह अनु चत होगा और काव्य को दूषित कर देगा।
3. उपहास्यता (मज़ाक) से बचाव: आचार्य भरतमुनि के एक उदाहरण के अनुसार, जिस प्रकार करधनी (कमर का आभूषण) को गले में और नूपुर (पायल) को हाथों में पहनने से व्यक्ति उपहास का पात्र बनता है, उसी प्रकार काव्य में अनु चत स्थान पर प्रयुक्त अलंकार या गुण शोभा देने के बजाय हास्यास्पद बन जाते हैं।
4. सामंजस्य और संतुलन की स्थापना: औ चत्य काव्य के बाह्य अंगों (शब्द, वाक्य, अलंकार) और आंतरिक अंगों (रस, भाव) के बीच एक सुंदर संतुलन और सामंजस्य स्थापित करता है, जिससे काव्य अधिक प्रभावोत्पादक बनता है।

निष्कर्ष: यद्यपि परवर्ती आचार्यों (जैसे अभिनवगुप्त) के अनुसार औ चत्य का रस से पृथक् कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, अतः इसे काव्य की स्वतंत्र 'आत्मा' नहीं माना जा सकता। फिर भी, यह निर्ववाद सत्य है कि औ चत्य काव्य का एक नितांत अंतरंग, गूढ़ और अनिवार्य नियामक तत्त्व है, जिसके पालन के बिना किसी भी उत्कृष्ट काव्य की रचना संभव नहीं है।

13. 'काव्य रूप' कसे कहते हैं? इसके प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।

काव्य रूप का अर्थ: काव्य का स्वरूप अत्यंत व्यापक, जटिल और सूक्ष्म होता है। संक्षेप में, जो वाक्य कसी इष्ट अर्थ (रसपूर्ण या आनंददायक अर्थ) को प्रकट करता है, उसे काव्य कहा जाता है। 'काव्य रूप' से तात्पर्य क वता या साहित्य की उस बाह्य और आंतरिक संरचना से है जिसके माध्यम से भावों को अभिव्यक्त किया जाता है।

काव्य के प्रमुख प्रकार (भेद): इंद्रिय ग्राह्यता (सुनने और देखने) के आधार पर काव्य को मुख्यतः दो वस्तुतः भागों में बाँटा गया है:

1. श्रव्य काव्य: वह काव्य जिसका रसास्वादन कानों से सुनकर या आँखों से पढ़कर किया जाता है, श्रव्य काव्य कहलाता है। इसके दो मुख्य उपभेद होते हैं:

- प्रबंध काव्य: इसमें कथा एक निश्चित क्रम और शृंखलाबद्ध तरीके से चलती है। इसके दो रूप हैं:
 - महाकाव्य: इसमें कसी नायक के संपूर्ण जीवन का वस्तुतः और सर्गबद्ध चित्रण होता है (जैसे- रामचरितमानस)।
 - खंडकाव्य: इसमें जीवन की कसी एक प्रमुख घटना या अंश का मार्मिक चित्रण होता है (जैसे- पंचवटी)।
- मुक्तक काव्य: इसमें कथा का कोई क्रम नहीं होता। इसका प्रत्येक छंद अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र होता है (जैसे- बिहारी या कबीर के दोहे)।

2. दृश्य काव्य: वह काव्य जिसका रसास्वादन नेत्रों से देखकर और कानों से सुनकर किया जाता है, दृश्य काव्य कहलाता है। इसमें अभिनेता अपनी वेशभूषा और अभिनय के माध्यम से दर्शकों के हृदय में रस का संचार करते हैं। नाटक, एकांकी आदि दृश्य काव्य के अंतर्गत आते हैं।

14. 'काव्य गुण' का अर्थ बताते हुए माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को समझाइए।

काव्य गुण का अर्थ: काव्य गुण वे अनिवार्य तत्त्व हैं जो काव्य के प्रभाव और उसके आंतरिक सौंदर्य (रस) को बढ़ाते हैं। जिस प्रकार शौर्य, उदारता आदि मनुष्य की आत्मा के धर्म (गुण) हैं, उसी प्रकार 'गुण' रस के अचल और अनिवार्य धर्म हैं। गुणों के बिना काव्य नीरस प्रतीत होता है। भारतीय काव्यशास्त्र (आचार्य मम्मट के अनुसार) में मुख्य रूप से तीन काव्य गुण माने गए हैं:

1. माधुर्य गुण: माधुर्य का अर्थ है— 'मधुरता'। जिस काव्य को पढ़ने या सुनने से अंतःकरण (हृदय) आनंद से द्रवीभूत हो जाए (पघल जाए), वहाँ माधुर्य गुण होता है। इसमें कठोर वर्णों (ट, ठ, ड, ढ) का अभाव होता है और कोमल वर्णों का प्रयोग किया जाता है। यह गुण मुख्यतः शृंगार, करुण और शांत रस में पाया जाता है।
2. ओज गुण: ओज का अर्थ है— 'तेज', 'दीप्ति' या 'उत्तेजना'। जिस काव्य को पढ़ने से मन में उत्साह, वीरता और आवेश उत्पन्न हो, वहाँ ओज गुण होता है। इसमें कठोर वर्णों, संयुक्त अक्षरों और लंबे समासों का प्रचुर प्रयोग होता है। यह गुण वीर, रौद्र और भयानक रसों में पाया जाता है।

3. प्रसाद गुण: प्रसाद का अर्थ है— 'प्रसन्नता' या 'स्वच्छता'। जिस रचना को सुनते या पढ़ते ही उसका अर्थ बिना किसी प्रयास के तुरंत हृदय में व्याप्त हो जाए (जैसे सूखे ईंधन में आग तुरंत फैल जाती है), वहाँ प्रसाद गुण होता है। यह गुण सरलता और स्पष्टता का परिचायक है तथा यह सभी रसों में पाया जा सकता है।

15. 'शब्द शक्ति' से क्या तात्पर्य है? इसके प्रकारों के नाम ल खए।

शब्द शक्ति का तात्पर्य: शब्द और उसके अर्थ का अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है। शब्द का अर्थ बोध कराने वाली शक्ति या व्यापार को ही 'शब्द शक्ति' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रक्रिया या माध्यम से किसी शब्द के अंतर्निहित अर्थ का ज्ञान श्रोता या पाठक को होता है, उसे शब्द शक्ति कहते हैं।

शब्द शक्ति के प्रकार: शब्द के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं (वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ), और इन्हीं अर्थों का बोध कराने के आधार पर शब्द शक्तियाँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती हैं:

1. अ भधा शब्द शक्ति (Literal Sense): यह शब्द की सबसे पहली और मुख्य शक्ति है, जो शब्द के साक्षात् संकेतित या लोक-प्रचलित मुख्य अर्थ (वाच्यार्थ) का बोध कराती है।
2. लक्षणा शब्द शक्ति (Figurative Sense): जब शब्द के मुख्य अर्थ में बाधा उत्पन्न हो, तब रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर मुख्य अर्थ से जुड़े हुए किसी अन्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) का बोध कराने वाली शक्ति लक्षणा कहलाती है।
3. व्यंजना शब्द शक्ति (Suggestive Sense): जब शब्द का अर्थ न तो अ भधा से निकले और न ही लक्षणा से, बल्कि किसी तीसरे ही वशेष या गूढ़ अर्थ (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति हो, तो उसे व्यंजना शब्द शक्ति कहते हैं।

16. अ भधा, लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्तियों में सरल भाषा में अंतर स्पष्ट कीजिए।

अ भधा, लक्षणा और व्यंजना— ये तीनों शब्द शक्तियाँ शब्द के अलग-अलग स्तरों के अर्थ को प्रकट करती हैं। इनमें मुख्य अंतर निम्न ल खत है:

1. अ भधा शब्द शक्ति:

- यह शब्द के सीधे, साधारण और कोषगत (Dictionary meaning) अर्थ का बोध कराती है।
- उदाहरण: "बैल खड़ा है।" यहाँ 'बैल' शब्द का सीधा अर्थ एक वशेष जानवर से है। इसे समझने में पाठक को कोई कल्पना नहीं करनी पड़ती।

2. लक्षणा शब्द शक्ति:

- जब शब्द का सीधा अर्थ (मुख्यार्थ) लागू न हो रहा हो, तब किसी वशेष प्रयोजन या रूढ़ि के कारण उससे मलता-जुलता दूसरा अर्थ निकाला जाता है।
- उदाहरण: "तुम निरे बैल हो।" यहाँ कोई इंसान जानवर 'बैल' नहीं हो सकता (मुख्यार्थ में बाधा)। अतः बैल के गुण (मूर्खता) के आधार पर इसका अर्थ 'मूर्ख व्यक्ति' निकाला जाता है।

3. व्यंजना शब्द शक्ति:

- जब शब्द का न तो सीधा अर्थ काम आए (अ भधा) और न ही लक्षण पर आधारित अर्थ (लक्षणा), बल्कि संदर्भ के अनुसार एक गहरा, छिपा हुआ और चमत्कारी अर्थ निकले, तो वहाँ व्यंजना होती है। इसमें एक ही वाक्य के अलग-अलग लोगों के लए अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं।
- उदाहरण: "सूर्य अस्त हो गया।" एक कसान के लए इसका अर्थ है क काम बंद कर घर जाने का समय हो गया है, जब क एक पुजारी के लए इसका अर्थ है क संध्या-पूजा का समय हो गया है। यहाँ वाक्य एक ही है, ले कन प्रसंग के अनुसार अर्थ (व्यंग्यार्थ) अलग-अलग ध्वनित हो रहा है।

17. 'काव्य दोष' कसे कहते हैं? कुछ प्रमुख काव्य दोषों के नाम और उनके प्रभाव ल खए।

काव्य दोष की परिभाषा: काव्य का मुख्य उद्देश्य रस (आनंद) की अनुभूति कराना है। जो तत्त्व काव्य के मुख्य अर्थ या 'रस' की अनुभूति में बाधा उत्पन्न करते हैं या उसके सौंदर्य को नष्ट करते हैं, उन्हें 'काव्य दोष' कहा जाता है। आचार्य वश्वनाथ के अनुसार, "रस के अपकर्षक (बाधक) तत्त्व दोष कहलाते हैं।"

प्रमुख काव्य दोष और उनके प्रभाव: काव्य दोषों के कारण काव्य का माधुर्य नष्ट हो जाता है और पाठक को आनंद के स्थान पर अरु च होती है। कुछ प्रमुख काव्य दोष इस प्रकार हैं:

1. श्रुतिकटुत्व दोष: जब काव्य में कानों को कटु (कठोर) लगने वाले वर्णों (जैसे ट, ठ, ड) का अनु चत प्रयोग होता है। यह शृंगार जैसे कोमल रसों के आस्वाद में बाधा डालता है।
2. च्युतसंस्कृति दोष: व्याकरण के नियमों के वरुद्ध अशुद्ध शब्दों का प्रयोग करना (जैसे लंग, वचन या कारक की गलती)। यह भाषा की शुद्धता को नष्ट करता है।
3. ग्राम्यत्व दोष: क वता में गँवारू या ग्रामीण बोलचाल के असभ्य शब्दों का प्रयोग करना, जिससे काव्य की गरिमा कम होती है।
4. अश्लीलत्व दोष: ऐसे शब्दों का प्रयोग करना जो लज्जा, घृणा या अमंगल का भाव उत्पन्न करें।
5. क्लिष्टत्व दोष: ऐसे शब्दों का प्रयोग करना जिनका अर्थ आसानी से समझ में न आए और पाठक को अर्थ निकालने में दिमागी कसरत करनी पड़े।
6. न्यूनपदत्व/अ धकपदत्व दोष: वाक्य में आवश्यकता से कम या आवश्यकता से अ धक शब्दों का प्रयोग करना, जिससे अर्थ में भटकाव आ जाए।

18. एक अच्छी क वता में काव्य गुणों का होना क्यों आवश्यक है और काव्य दोषों से कैसे बचना चाहिए?

एक उत्कृष्ट और कालजयी क वता की रचना के लए काव्य गुणों का समावेश और काव्य दोषों का परिहार (बचाव) नितांत आवश्यक है।

काव्य गुणों की आवश्यकता: काव्य गुण (माधुर्य, ओज, प्रसाद) रस के अचल और आंतरिक धर्म होते हैं। जिस प्रकार शौर्य, दया आदि मनुष्य की आत्मा को महान बनाते हैं, उसी प्रकार काव्य गुण क वता के आंतरिक सौंदर्य और रस को उत्कर्ष प्रदान करते हैं।

- गुणों के बिना क वता निष्प्राण और नीरस लगती है।
- ये गुण ही पाठक के चत को द्रवीभूत (माधुर्य), दीप्त/उत्साहित (ओज) या प्रसन्न (प्रसाद) करते हैं।

- अतः रसानुभूति को गहरा और चरस्थायी बनाने के लए क वता में प्रसंगानुकूल गुणों का होना अनिवार्य है।

काव्य दोषों से बचाव: काव्य दोष रस की अनुभूति में सबसे बड़े बाधक हैं, जो क वता के प्रभाव को शून्य कर देते हैं। एक सफल क व को इनसे बचने के लए निम्न ल खत बातों का ध्यान रखना चाहिए:

1. व्याकरणक शुद्धता: क व को भाषा और व्याकरण का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए ता क 'च्युतसंस्कृति' जैसे दोषों से बचा जा सके।
2. रसानुकूल वर्ण योजना: शृंगार या करुण रस में कठोर वर्णों के प्रयोग से बचना चाहिए ता क 'श्रुतिकटुत्व' दोष उत्पन्न न हो।
3. शब्दों का उ चत चयन: प्रसंग की गरिमा के अनुसार शब्दों का चयन करना चाहिए। ग्रामीण (ग्राम्यत्व), भद्दे (अश्लीलत्व) या अनावश्यक रूप से कठिन (क्लिष्टत्व) शब्दों के प्रयोग से बचना चाहिए।
4. स्पष्टता: क वता का अर्थ पाठक तक आसानी से पहुँचना चाहिए, इसके लए अर्थ को अनावश्यक रूप से उलझाना नहीं चाहिए।

संक्षेप में, गुणयुक्त और दोषमुक्त रचना ही पाठक के हृदय में स्थायी आनंद (रस) की सृष्टि करने में पूर्णतः सफल होती है।

इकाई - IV : नाट्यशास्त्र

19. भारतीय नाट्यशास्त्र का सामान्य परिचय देते हुए इसका महत्व बताइए।

भारतीय नाट्यशास्त्र का सामान्य परिचय: भारतीय साहित्य में नाटकों के संबंध में शास्त्रीय जानकारी देने वाले शास्त्र को 'नाट्यशास्त्र' कहा जाता है। इस विषय का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ भरतमुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' है। भरतमुनि का जीवनकाल 400 ईसा पूर्व से 100 ईसवी के मध्य माना जाता है। 37 अध्यायों वाले इस ग्रंथ में नाटक, रंगमंच, अभिनेता, अभिनय, नृत्य, गीत, वाद्य, दर्शक, दशरूपक और रस-निष्पत्ति से संबंधित सभी तथ्यों का अत्यंत सूक्ष्म और वैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

भारतीय मान्यता के अनुसार नाट्यकला की उत्पत्ति दैवीय है। जब देवताओं ने ब्रह्मा जी से मनोरंजन के एक ऐसे साधन की माँग की जो सभी वर्णों के लिए सुलभ हो, तब ब्रह्मा जी ने चारों वेदों के तत्त्वों को लेकर 'नाट्यवेद' (पंचम वेद) की रचना की— ऋग्वेद से संवाद (कथोपकथन), सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण किया गया।

नाट्यशास्त्र का महत्व:

1. समग्र कलाओं का समन्वय: नाट्यशास्त्र यह स्पष्ट करता है कि नाटक की सफलता केवल लेखक की प्रतिभा पर निर्भर नहीं है, बल्कि यह अभिनय, संगीत, नृत्य, चित्रकला और वास्तुकला जैसी विभिन्न कलाओं का एक अद्भुत संगम है।
2. रंगमंच और अभिनय का शास्त्र: यह केवल नाटक लिखने के नियम नहीं बताता, बल्कि अभिनेता के हाव-भाव, संवाद अदायगी और मंच-सज्जा का भी पूर्ण मार्गदर्शन करता है।
3. रस की प्रधानता: नाट्यशास्त्र ने 'रस' (आनंद) को नाटक की आत्मा माना है, जो दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर तन्मय कर देता है।
4. लोक-कल्याण और मनोरंजन: यह सिद्ध करता है कि नाटक केवल शक्ति के लिए नहीं, बल्कि सामान्य जनता के मनोवृत्ति और नैतिक कल्याण का एक सशक्त माध्यम है।

20. नाटक में 'वृत्त' कसे कहते हैं? इसके प्रमुख प्रकारों को समझाइए।

वृत्त का अर्थ: नाट्य विधाओं में नायक तथा नायिका के व्यापार-विशेष (आचरण, व्यवहार और कार्य-शैली) को 'वृत्त' कहा जाता है। यह पात्रों की चेष्टाओं और मनोभावों को प्रकट करने की एक शैली है, जो रस के अनुकूल होती है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में मुख्य रूप से चार प्रकार की वृत्तियाँ मानी गई हैं:

वृत्तियों के प्रमुख प्रकार:

1. कैशिकी वृत्त : यह वृत्त मुख्य रूप से शृंगार रस में प्रयुक्त होती है। इसमें पात्रों की मनोरम वेशभूषा, सुंदर हाव-भाव, नृत्य, गायन और प्रेम-प्रसंगों का चित्रण होता है। कोमल और शृंगारिक क्रियाकलापों के लिए यह वृत्त सर्वाधिक उपयुक्त मानी जाती है। हास-परिहास (नर्म) इसका प्रमुख अंग है।

2. सात्वती वृत्त : इस वृत्त का प्रयोग वीर रस में होता है। जहाँ कथावस्तु शोक-रहित हो, हर्ष और उत्साह का परिवेश हो, तथा पराक्रम, साहस और श्रेष्ठ वाणी का प्रयोग हो, वहाँ सात्वती वृत्त होती है। इसमें पुरुष पात्रों की प्रधानता होती है।
3. आरभटी वृत्त : यह रौद्र और वीभत्स रस की वृत्त है। जिस अ भनय में छल, कपट, अहंकार, कुटिलता, षड्यंत्र, मायाजाल, इंद्रजाल, क्रोध और युद्ध (मार-काट) की प्रचुरता होती है, वह आरभटी वृत्त कहलाती है।
4. भारती वृत्त : यह 'शब्द वृत्त' या वाणी प्रधान वृत्त है। इसमें संवादों और वाक्-चातुर्य की प्रधानता होती है। इसका प्रयोग प्रायः पुरुष पात्रों द्वारा संस्कृत भाषा में किया जाता है। शब्द-प्रधान होने के कारण यह सभी रसों में प्रयुक्त हो सकती है। नाटक की प्रस्तावना (आमुख) इसी वृत्त का अंग है।

21. 'अ भनय' से आप क्या समझते हैं? अ भनय के चारों प्रकारों का वर्णन कीजिए।

अ भनय का अर्थ: 'अ भनय' शब्द 'णी' धातु में 'अ भ' उपसर्ग लगने से बना है, जिसका अर्थ है— भावों या मुख्य अर्थ को दर्शकों तक पहुँचाना। आचार्य वश्वनाथ के अनुसार, "अवस्था का अनुकरण ही अ भनय कहलाता है" (भवेद भनयोऽवस्थानुकारः)। जब कोई नट (अ भनेता) अपनी वाणी, शारीरिक चेष्टा, मुख-मुद्रा और वेशभूषा के माध्यम से किसी ऐतिहासिक या कल्पित पात्र के चरित्र को दर्शक के सामने जीवंत कर देता है और रसानुभूति कराता है, तो उस व्यापार को अ भनय कहते हैं।

अ भनय के चार प्रकार: भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अ भनय के चार प्रमुख भेद माने हैं:

1. आंगक अ भनय: शरीर के व भन्न अंगों (सर, हाथ, पैर, वक्ष, कमर) और मुख के अंगों (नेत्र, भौंहें, अधर, कपोल) की चेष्टाओं द्वारा भावों को प्रकट करना आंगक अ भनय कहलाता है। चलने का ढंग (गति) और शारीरिक मुद्राएँ इसी के अंतर्गत आती हैं।
2. वाचक अ भनय: अ भनेता अपने मुख से जो संवाद बोलता है, उसे वाचक अ भनय कहते हैं। वाणी का आरोह-अवरोह, स्वर-नियंत्रण, उच्चारण और यहाँ तक कि रोने, हँसने या पशु-पक्षियों की ध्वनि निकालना भी इसी का हिस्सा है। एक श्रेष्ठ वाचक अ भनय वह है जिसमें अ भनेता को बिना देखे केवल उसकी आवाज़ से भावों का पता चल जाए।
3. आहार्य अ भनय: इसका संबंध अ भनेता की रूप-सज्जा और नेपथ्य-कर्म (मेकअप) से है। पात्र के चरित्र और अवस्था के अनुकूल वस्त्र, आभूषण और रूप-रंग धारण करना आहार्य अ भनय कहलाता है।
4. सात्त्विक अ भनय: यह वह हार्दिक और वास्तविक अ भनय है जो कृत्रिम नहीं होता, बल्कि भावनाओं में पूर्णतः डूब जाने पर शरीर में स्वतः उत्पन्न होता है। इसके अंतर्गत पसीना आना (स्वेद), रोंगटे खड़े होना (रोमांच), काँपना (कंप), आवाज़ भरना (स्वरभंग) और आँसू आना (अश्रु) जैसे सात्त्विक भाव शा मल होते हैं।

22. 'रूपक' कसे कहते हैं? रूपक के प्रमुख भेदों के नाम ल खए।

रूपक का अर्थ: भारतीय नाट्यशास्त्र में दृश्य-काव्य (जिसे रंगमंच पर देखा और सुना जा सके) के लए 'रूपक' शब्द का प्रयोग कया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति "रूप्यते नाट्यते इति रूपम्" से हुई है। जब किसी अभिनेता पर ऐतिहासिक या कल्पित पात्र (जैसे राम, दुष्यंत) के रूप और आचरण का आरोप कया जाता है, तो उस वधा को 'रूपक' कहा जाता है। आम बोलचाल में इसे ही 'नाटक' कह दिया जाता है।

संस्कृत साहित्य में रूपक के मुख्य रूप से दो वभाग कए गए हैं: रूपक और उपरूपक। रूपकों का वभाजन उनके आकार, कथानक, नायक की प्रकृति और रस के आधार पर कया जाता है।

रूपक के प्रमुख 10 भेद (दशरूपक): भरतमुनि ने अपनी रचना में मुख्य रूप से दस रूपकों का वधान कया है, जिन्हें 'दशरूप' कहा जाता है। ये निम्न ल खत हैं:

1. नाटक : यह रूपकों में सबसे श्रेष्ठ है। इसकी कथा इतिहास प्रसिद्ध होती है, नायक धीरोदात्त (जैसे राम) होता है, और इसमें 5 से 10 अंक होते हैं।
2. प्रकरण: इसकी कथा कल्पित होती है और नायक ब्राह्मण, मंत्री या वैश्य (जैसे- मृच्छकटिकम्) होता है।
3. भाण: यह एकांकी (एक अंक का) होता है, जिसमें एक ही पात्र धूर्त चरित्रों का वर्णन आकाश-भाषत शैली में करता है।
4. व्यायोग : एकांकी रूपक, जिसमें स्त्री पात्र नहीं होते और युद्ध/संघर्ष का वर्णन होता है।
5. समवकार: देव-दानवों की पौराणिक कथा, 3 अंक और 12 नायक होते हैं।
6. डम : इसमें माया, इंद्रजाल, भूत-प्रेत और युद्ध का चित्रण होता है, इसमें 4 अंक होते हैं।
7. ईहामृग : इसमें 4 अंक होते हैं और एक दिव्य नायक तथा एक प्रतिनायक होता है।
8. अंक या उत्सृष्टिकाङ्क : यह एक अंक का रूपक है, जिसमें करुण रस की प्रधानता और स्त्रियों का वलाप होता है।
9. वीथी : एक अंक का रूपक, जिसमें 1 या 2 पात्र होते हैं और शृंगार रस की सूचना होती है।
10. प्रहसन : यह एक हास्य-व्यंग्य प्रधान एकांकी रूपक है।

23. किसी भी नाटक में 'कथा' (कथावस्तु) का क्या महत्व होता है? वस्तुतः समझाइए।

किसी भी नाटक या रूपक का सबसे प्रमुख और आधारभूत तत्त्व उसकी 'कथा' या 'कथावस्तु' होती है। कथा के बिना किसी भी नाटक के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

कथा (कथावस्तु) का महत्व:

1. नाटक का आधार और धुरी: कथावस्तु वह ढाँचा है जिस पर पूरा नाटक खड़ा होता है। यह घटनाओं को एक निश्चित कालक्रम और शृंखला में परोती है। सभी पात्र, उनके संवाद और उनके कार्य-व्यापार इसी कथा के ताने-बाने के चारों ओर घूमते हैं।
2. कार्य-कारण संबंध की स्थापना: एक सामान्य 'कथा' केवल घटनाओं का सीधा वर्णन (जैसे- राजा मर गया, फिर रानी मर गई) हो सकती है, लेकिन एक नाटकीय 'कथानक' (Plot) घटनाओं के बीच

ता र्कक कार्य-कारण संबंध स्थापित करता है। यह दर्शकों के मन में उठने वाले "ऐसा क्यों हुआ?" और "अब आगे क्या होगा?" जैसे प्रश्नों का समाधान करता है।

3. जिज्ञासा और रोचकता का निर्माण: एक सुगठित कथावस्तु नाटक में आकस्मिकता, संघर्ष और रहस्य का समावेश करती है, जिससे दर्शकों की उत्सुकता अंत तक बनी रहती है। नायक के मार्ग में आने वाली बाधाएँ और उनका निवारण कथा को गतिशीलता प्रदान करते हैं।
4. अर्थप्रकृतियों और संघर्षों का निर्वाह: भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार कथावस्तु का विकास पाँच अवस्थाओं (प्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम) में होता है। बीज, बिंदु, पताका आदि अर्थप्रकृतियाँ कथा को भटकाव से बचाकर उसके अंतिम लक्ष्य (फल-प्राप्ति) तक ले जाती हैं।
5. भावोत्तेजना और रसानुभूति: कथावस्तु का मुख्य उद्देश्य केवल सूचना देना नहीं है, बल्कि दर्शकों के भीतर रस (आनंद और भाव) की निष्पत्ति करना है। घटनाओं का उतार-चढ़ाव ही दर्शकों को रुलाता है, हँसाता है या रोमांचित करता है।

संक्षेप में, कथावस्तु नाटक का वह शरीर है, जिसमें रस रूपी आत्मा का निवास होता है।

24. भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार एक अच्छे 'नेता' (नायक) में कौन-कौन से गुण होने चाहिए?

भारतीय नाट्यशास्त्र में रूपक (नाटक) के प्रमुख तत्वों में वस्तु और रस के साथ-साथ 'नेता' (नायक) का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। नाटक की कथावस्तु को उसके अंतिम लक्ष्य (फल) तक ले जाने का कार्य नायक ही करता है।

एक अच्छे नायक के सामान्य गुण: आचार्यों के अनुसार नायक को अनेक श्रेष्ठ गुणों से संपन्न होना चाहिए। उसे वनीत (नम्र), सुंदर, शीलवान, त्यागी, कार्य-कुशल, मधुर-भाषी (प्रिय बोलने वाला), लोक प्रिय, स्थिर चित्त (धैर्यवान), साहसी, युवा, उच्च कुल में उत्पन्न (कुलीन), शूरवीर, तेजस्वी और व भन्न कलाओं में पारंगत होना चाहिए।

नायक के चार प्रमुख प्रकार: पात्र की प्रकृति, आचरण और स्थिति के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र में नायकों को चार प्रमुख श्रेणियों में बाँटा गया है:

1. धीरोदात्त : यह नाटकों का सबसे उत्तम और आदर्श नायक होता है। यह क्षमाशील, अत्यंत गंभीर, अहंकार-रहित, स्थिर स्वभाव वाला, दृढ़व्रती और अपनी प्रशंसा स्वयं न करने वाला होता है। (जैसे- मर्यादा पुरुषोत्तम राम)।
2. धीरललित : यह नायक कला-प्रेमी, सुखी, कोमल स्वभाव वाला, हमेशा निश्चित रहने वाला और शृंगार (नृत्य-गीत आदि) में आसक्त होता है। (जैसे- राजा उदयन)।
3. धीरप्रशांत : यह सामान्यतः ब्राह्मण, वैश्य या मंत्री वर्ग से आता है। यह नम्र, शिष्ट, क्षमाशील और सामान्य गुणों से युक्त होता है। (जैसे- 'मृच्छकटिकम्' का नायक चारुदत्त)।
4. धीरोद्धत : यह नायक अत्यंत क्रोधी, चंचल, घमंडी, मायावी, छल-कपट करने वाला और अपनी प्रशंसा स्वयं करने वाला होता है। (जैसे- परशुराम या रावण)।

इन सभी श्रेणियों में 'धीरोदात्त' नायक को ही सर्वश्रेष्ठ और नाटक के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना गया है।

25. नाट्यशास्त्र के अनुसार 'नायिका' के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।

भारतीय नाट्यशास्त्र और परवर्ती काव्यशास्त्र (वशेषकर रीतिकालीन साहित्य) में नायिकाओं का अत्यंत सूक्ष्म और वस्तुतः वर्गीकरण किया गया है। नायिका वह है जो नायक के समान ही रूपवती, गुणवान, शीलवती, मधुर-भाषी और कला-मर्मज्ञ हो।

संबंध, प्रकृति और परिस्थितियों के आधार पर नायिकाओं के प्रमुख प्रकार निम्न लखत हैं:

1. संबंध के आधार पर (तीन प्रमुख भेद):

- स्वकीया: जो नायिका केवल अपने पति से प्रेम करती है और पतिव्रता होती है। आयु और अनुभव के आधार पर इसके तीन उपभेद हैं— मुग्धा (नवयौवना), मध्या (लज्जा और काम का समान भाव), और प्रगल्भा (प्रेम और कला में पूर्णतः निपुण)।
- परकीया: वह नायिका जो ववाह के बंधन से बाहर किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती है (जैसे- अनूठा या कन्या)।
- सामान्या: वह नायिका (गणका या वेश्या) जो धन के लए किसी भी पुरुष से प्रेम का दिखावा कर सकती है।

2. परिस्थिति (अवस्था) के आधार पर (भरतमुनि के 8 भेद): भरतमुनि ने नायक के साथ मलन या वयोग की स्थिति के अनुसार नायिका (अष्टनायिका) के 8 भेद माने हैं:

1. वासकसज्जा: जो नायक के मलन की आशा में स्वयं को और शय्या को सजाती है।
2. वरहोत्कंठिता: जिसका प्रय किसी कारणवश न आ सके और वह वरह में व्याकुल हो।
3. स्वाधीनपतिका: जिसका पति उसके पूर्ण प्रेम-बंधन (वश) में हो।
4. कलहांतरिता: जो क्रोध में नायक को लौटा दे और बाद में पछतावा करे।
5. खंडिता: जिसका नायक रात में किसी अन्य स्त्री के पास रहकर सुबह उसके पास आए।
6. वप्रलब्धा: जो संकेत स्थल पर नायक के न पहुँचने से ठगी हुई सी महसूस करे।
7. प्रोषतभर्तृका: जिसका पति दूर देश (परदेस) चला गया हो।
8. अभसारिका: जो प्रेम-वश स्वयं नायक से मलने संकेत-स्थल पर जाए।

3. प्रकृति के आधार पर: स्वभाव के आधार पर नायिकाएँ उत्तमा, मध्यमा और अधमा प्रकार की मानी गई हैं।

26. नाटक के मंचन में 'रंगमंचीय वशेषताओं' (जैसे मंच की सजावट) का क्या महत्व है? प्रकाश डा लए।

नाटक एक 'दृश्य काव्य' है, जिसकी सार्थकता और वास्तविक परीक्षा रंगमंच (Stage) पर ही होती है। रंगमंच वह सजीव और साकार कला-माध्यम है जहाँ नाटक अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करता है।

रंगमंच और उसकी सजावट का महत्व:

1. समग्र प्रभाव की सृष्टि: नाटक को जब मंच पर प्रस्तुत किया जाता है, तो केवल पात्र ही संवाद नहीं बोलते, बल्कि पूरा मंच बोलता है। मंच की सजावट (सेट), प्रकाश-व्यवस्था (लाइटिंग), वेशभूषा और

पृष्ठभूमि का संगीत मलकर ऐसा वातावरण तैयार करते हैं जो दर्शकों को सीधे कथा के समय और स्थान (देश-काल) से जोड़ देता है।

2. कल्पना को साकार करना: रंगमंच नाटककार की कल्पना को भौतिक रूप प्रदान करता है। दीवारों की चित्रकारी, पर्दे और रंग-मंच का तल दर्शकों को महल, जंगल या युद्ध के मैदान की जीवंत अनुभूति कराते हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रंगमंच की दीवारों पर भूतलेप और चित्रकारी का विशेष वर्णन बताया है।
3. अभिनय में सहायक: एक सुसज्जित और उपयुक्त रंगमंच अभिनेताओं को उनके चरित्र में पूरी तरह डूबने में मदद करता है। नेपथ्य (बैकस्टेज), रंगपीठ और प्रवेश-निकास के द्वार अभिनेताओं के आवागमन और नाट्य-व्यापार को सहज बनाते हैं।
4. दर्शक से तादात्म्य: नाट्यशाला (प्रेक्षागृह) का निर्माण इस प्रकार किया जाता है (जैसे सीढ़ीनुमा बैठक व्यवस्था) कि प्रत्येक दर्शक मंच पर हो रही घटनाओं से सीधा जुड़ाव महसूस करे। प्रकाश (दीपकों) और ध्वनि की व्यवस्था नाटक के रस को दर्शकों के हृदय तक सफलतापूर्वक पहुँचाती है।

निष्कर्षतः, जिस नाटक में जितनी अधिक मंचीय संभावनाएँ और सशक्त रंगमंचीय सजावट होती है, वह नाटक दर्शकों को उतना ही अधिक मंत्रमुग्ध करता है और सफलता के शिखर पर पहुँचता है। रंगमंच के बिना नाटक का कोई व्यावहारिक अस्तित्व नहीं है।

27. अरस्तू के 'अनुकरण सद्धांत' का सरल भाषा में वर्णन कीजिए।

अरस्तू ने प्लेटो के वचारों का खंडन करते हुए अपने 'अनुकरण सद्धांत' की स्थापना की, जो काव्य को मात्र नकल नहीं बल्कि एक सर्जनात्मक प्रक्रिया मानता है। इसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं:

- अनुकरण का अर्थ पुनःसृजन: अरस्तू के अनुसार अनुकरण का अर्थ किसी वस्तु की हूबहू या यांत्रिक नकल (प्रति ल प) करना नहीं है, बल्कि यह जीवन का 'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण' या 'पुनःसृजन' है।
- मानव स्वभाव की मूल प्रवृत्ति: अरस्तू मानते हैं कि अनुकरण मानव स्वभाव की एक मूल प्रवृत्ति है और मनुष्य इसी के माध्यम से संसार का ज्ञान हासिल करता है।
- बाह्य के साथ आंतरिक सत्य का चित्रण: अनुकरण केवल प्रकृति के बाह्य रूपों का नहीं होता, बल्कि प्रकृति की आंतरिक प्रक्रियाओं और सर्जन-प्रक्रिया का भी होता है। रचनाकार बाह्य जगत से सामग्री लेकर अपनी अनुभूति और कल्पना के सहारे उसे तराशकर एक अभिनव रूप में प्रस्तुत करता है।
- संभाव्य और आदर्श का चित्रण: कवि केवल उन्हीं वस्तुओं का चित्रण नहीं करता जो जैसी हैं (प्रतीयमान), बल्कि वह उनका भी चित्रण करता है जैसी वे 'हो सकती हैं' (संभाव्य) या जैसी उन्हें 'होना चाहिए' (आदर्श)।
- काव्य इतिहास से श्रेष्ठ: इतिहास केवल घटित घटनाओं (तथ्य) का वर्णन करता है जो विशेष होती हैं, जबकि काव्य संभावनाओं का चित्रण करता है जो सार्वभौम होती हैं। इस लिए अरस्तू काव्य के सत्य को इतिहास से ऊँचा मानते हैं।
- आनंद की प्राप्ति: अनुकरण की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से आनंददायक होती है। काव्य में अपने परिचित जगत को पहचानकर (प्रत्यक्ष भोजन) श्रोता या पाठक को एक विशेष प्रकार का आनंद मिलता है।

28. अरस्तू के 'वरेचन सद्धांत' से आप क्या समझते हैं? वस्तुतः से बताइए।

'वरेचन' यूनानी चिकित्साशास्त्र का एक शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है रेचक औषधियों के प्रयोग द्वारा शरीर को वकारों या अस्वास्थ्यकर तत्वों से मुक्त करना। अरस्तू ने इसका प्रयोग 'त्रासदी' के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए किया है:

- मनो वकारों का शमन: अरस्तू के अनुसार, त्रासदी दर्शक के मन में 'करुणा' और 'त्रास' की भावनाओं को उकसाती है। इन भावों के तीव्र उद्वेलन के बाद त्रासदी उनका 'शमन' कर देती है, जिससे दर्शक के उद्वेग शांत हो जाते हैं और उसके मनोभावों में संतुलन आ जाता है।
- मानसिक शुद्धि और स्वास्थ्य: जिस प्रकार दवा शरीर के वकारों को दूर कर स्वास्थ्य प्रदान करती है, उसी प्रकार त्रासदी मानसिक स्तर पर वकारों का वरेचन करके दर्शक को मानसिक वशदता, शुद्धि और संतुलन प्रदान करती है।

- दुःख का आनंद में परिवर्तन: यद्यपि त्रासदी में दुःखद स्थितियों का चित्रण होता है, लेकिन वरेचन की प्रक्रिया के कारण करुणा और त्रास के भाव कष्ट देने की प्रवृत्ति से मुक्त हो जाते हैं। भावों के इस शमन और साधारणीकरण के फलस्वरूप अंततः दर्शक को एक प्रकार की शांति और 'आनंद' की प्राप्ति होती है।
- व भन्न व्याख्याएँ: परवर्ती वद्वानों ने वरेचन की कई व्याख्याएँ की हैं। धर्मपरक व्याख्या इसे धर्मक संगीत द्वारा उद्देश्यों की शांति से जोड़ती है; नीतिपरक व्याख्या इसे दमन मनोवकारों के निष्कासन से जोड़ती है; और कलापरक व्याख्या (जैसे बूचर की) इसे भावों को कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत करने से जोड़ती है।

29. कॉलरिज के 'कल्पना' और 'फैंटेसी' के वचारों में क्या अंतर है? स्पष्ट कीजिए।

सैम्युअल टेलर कॉलरिज ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'बायोग्राफिया लटरेरिया' (1817) में काव्य सृजन-प्रक्रिया और कव-प्रतिभा की गहन व्याख्या की है। उन्होंने 'कल्पना' और 'फैंटेसी' (ललत या रम्य कल्पना) के बीच स्पष्ट और मौलिक अंतर स्थापित किया है:

- कल्पना :
 - कल्पना एक जीवंत और सर्जनात्मक शक्ति है जो अमूर्त धारणाओं को मूर्त रूप देती है और प्रतिच्छव का सृजन करती है।
 - कॉलरिज ने कल्पना की दो कोटियाँ मानी हैं: 1. प्राथमिक कल्पना और 2. व शष्ट/गौण कल्पना।
 - प्राथमिक कल्पना: यह सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का मूल हेतु और जीवंत शक्ति है, जो अचेतन (अनैच्छिक) रूप में कार्य करती है।
 - व शष्ट/गौण कल्पना: यह प्राथमिक कल्पना की ही प्रतिध्वनि है जो चेतन (ऐच्छिक) रूप में कार्य करती है। यह 'निर्माण' (संघटन) का कार्य करती है। यह बिंबों को वघटित और वगलत कर उन्हें बिल्कुल नए रूप में ढाल देती है तथा उनमें आंतरिक सामंजस्य और एकरूपता लाती है।
- फैंटेसी (रम्य कल्पना):
 - फैंटेसी का अर्थ है 'हल्की कल्पना', जिसे कॉलरिज स्मृति का ही एक प्रतिरूप मानते हैं।
 - यह देश-काल के बंधन से मुक्त और इच्छाशक्ति द्वारा संचालित होती है।
 - यह 'यांत्रिक' कार्यपद्धति पर आधारित है और केवल निश्चित वस्तुओं को एकत्र करने का कार्य करती है।
- मुख्य अंतर: कल्पना बिंबों को वघटित कर नया रूप देती है, जबकि रम्यकल्पना बिंबों को केवल 'पास-पास रख देती है', उनमें कोई तात्त्विक परिवर्तन नहीं करती। कल्पना का संबंध 'आत्मा और मन' (प्रतिभा) से है, जबकि ललत कल्पना का संबंध केवल 'मस्तिष्क' (प्रज्ञा) से है।

30. व लयम वर्ड्सवर्थ के 'काव्यभाषा सद्धांत' की प्रमुख बातें क्या हैं?

व लयम वर्ड्सवर्थ ने 18वीं शताब्दी के नव-अ भजात्यवाद की कृत्रिम और आडंबरपूर्ण भाषा से वच्छेद कर 'लरिकल बैलेड्स' की भूमिका में अपने नवीन काव्यभाषा सद्धांत का प्रतिपादन किया। इसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं:

- जनसाधारण व ग्रामीणों की भाषा: वर्ड्सवर्थ का मुख्य तर्क था क क वता की भाषा जन-साधारण और ग्रामीणों की दैनिक भाषा होनी चाहिए। उनका मानना था क ग्रामीण जीवन में मनुष्य के भाव सरल, निष्कपट और सच्चे होते हैं तथा वे प्रकृति के निरंतर संपर्क में रहने के कारण अधिक तादात्म्यपूर्ण होते हैं।
- कृत्रिम काव्य-शैली का बहिष्कार: उन्होंने पारंपरिक शैली, विशेष अलंकरणयुक्त क्लिष्ट शब्दों, अस्वाभाविक कल्पना, शाब्दिक चमत्कार और आडंबर का कड़ा विरोध किया। उनके अनुसार भाषा सरल, सीधी और कृत्रिमता से मुक्त होनी चाहिए।
- गद्य और पद्य की भाषा में समानता: वर्ड्सवर्थ के अनुसार गद्य और पद्य (क वता) की भाषा में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता है। दोनों की 'राग और रुच' समान होती है।
- भावों का सहज उच्छलन: उन्होंने क वता को "मानव-मन की बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन" माना। अतः मनुष्य की सच्ची भाषा वही होती है जिसका प्रयोग वह तीव्र भावावेग में स्वतः करता है।
- छंद का प्रयोग: यद्यपि वे गद्य और पद्य की भाषा को समान मानते थे, ले कन उन्होंने क वता में 'छंद' के प्रयोग को आवश्यक और उपयुक्त माना। उनका विचार था क करुण स्थिति और भावावेग का जितना सफल व आनंददायक वर्णन छंद में हो सकता है, उतना गद्य में नहीं।

31. आई. ए. रिचर्ड्स के 'संप्रेषण सद्धांत' को सरल शब्दों में समझाइए।

आई. ए. रिचर्ड्स ने मनो विज्ञान और भाषा- विज्ञान के आधार पर अपने काव्य सद्धांतों का प्रतिपादन किया, जिसमें 'संप्रेषण' का केंद्रीय स्थान है।

- मूल्य और संप्रेषण: रिचर्ड्स की आलोचना के दो प्रमुख आधार हैं: मूल्य-व्यवस्था और संप्रेषण। वे कलाओं को संप्रेषण- क्रिया का सर्वोत्तम माध्यम मानते हैं।
- तनाव और सामंजस्य : रिचर्ड्स के अनुसार काव्य का 'मूल्य' इस बात पर निर्भर है क वह पाठक के चित्त में उत्पन्न विरोधी वृत्तियों या तनाव के बीच कतना सफल संतुलन और सामंजस्य स्थापित कर पाता है। जब क व अपनी इस संतुलित मनोदशा को पाठक तक संप्रेषित कर देता है, तभी काव्य सफल होता है।
- रागात्मक भाषा : रिचर्ड्स ने भाषा के दो भेद किए: तथ्यपरक (वैज्ञानिक) और रागात्मक (काव्यात्मक)। क वता की 'रागात्मक भाषा' तथ्यों की सूचना देने के बजाय भावों, प्रेरणाओं और मर्म के सौंदर्य को पाठक तक संप्रेषित करने का कार्य करती है।

- अर्थ-ग्रहण के स्तर: रिचर्ड्स के अनुसार कसी रचना के समग्र अर्थ को संप्रेषित करने के लिए चार उपकरणों का तालमेल आवश्यक है: वाच्यार्थ (Sense), भाव (Feeling), ध्वनि/लहजा (Tone), और अभिप्राय (Intention)।

32. टी. एस. इलियट का 'निर्वैयक्तिकता का सद्धांत' क्या है? स्पष्ट कीजिए।

टी. एस. इलियट ने रोमांटिक काव्य-सद्धांतों (जैसे वर्ड्सवर्थ के आत्म-अभिव्यक्ति सद्धांत) का कड़ा विरोध करते हुए 'निर्वैयक्तिकता' का सद्धांत प्रतिपादित किया।

- व्यक्तित्व से पलायन: इलियट के अनुसार, "कविता कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति या आत्मा अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है; व्यक्तित्व का अनवरत निषेध है"।
- कवि केवल एक माध्यम: रचना-प्रक्रिया में कवि के पास अभिव्यक्ति करने के लिए अपना कोई 'व्यक्तित्व' नहीं होता, बल्कि वह केवल एक 'माध्यम' (medium) होता है जिसमें विभिन्न प्रभाव और अनुभव संयुक्त हो जाते हैं।
- उत्प्रेरक का दृष्टांत (Catalyst): इलियट ने कवि के मन को 'प्लेटिनम के तार' (उत्प्रेरक) के समान माना है। जिस प्रकार प्लेटिनम की उपस्थिति में दो गैसों मिलाकर एक सड़क बन जाती है, वैसे ही कवि का मन विभिन्न अनुभवों को मिलाकर कविता रचता है, लेकिन स्वयं निर्वैयक्तिक और अछूता रहता है।
- कविगत भाव और काव्यगत भाव में अंतर: इलियट मानते हैं कि कवि के निजी जीवन के भावों (जो सरल या अनगढ़ हो सकते हैं) और कविता में व्यक्त कलात्मक भावों में बुनियादी अंतर होता है।
- कला और विज्ञान की समानता: कलाकार का विकास निरंतर आत्म-बलिदान और आत्म-समर्पण में है। इसी निर्वैयक्तिकरण के कारण कला विज्ञान की सी वस्तुपरक स्थिति प्राप्त कर लेती है। इस लिए आलोचना का लक्ष्य 'कवि' नहीं, बल्कि 'कविता' होनी चाहिए।

इकाई - VI : हिन्दी आलोचना का इतिहास तथा सैद्धांतिकी

33. हिन्दी आलोचना के विकास क्रम पर वस्तुतः प्रकाश डालें।

हिन्दी आलोचना का विकास उद्भव और विकास आधुनिक काल में हुआ, किंतु इसके बीज पूर्ववर्ती युगों में भी देखे जा सकते हैं। इसके विकास क्रम को निम्नलिखित चरणों में समझा जा सकता है:

- आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल (प्रारंभिक अवस्था): इन युगों में आलोचना का आधुनिक रूप नहीं था। रीतिकाल में 'लक्षण ग्रंथों' (जैसे- कव्यप्रिया, कविकुलकल्पतरु) और 'टीका या वचनिका' (जैसे- बिहारी सतसई या रामचरितमानस की टीकाएँ) के रूप में सैद्धांतिक और परिचयात्मक आलोचना के दर्शन होते हैं।
- भारतेंदु युग (आधुनिक आलोचना का सूत्रपात): गद्य के विकास के साथ पत्र-पत्रिकाओं (कव्यचन सुधा, हरिश्चंद्र चंद्रिका, हिन्दी प्रदीप) के माध्यम से व्यावहारिक और परिचयात्मक आलोचना की शुरुआत हुई। बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन द्वारा 'संयोगता स्वयंवर' की आलोचना इसका प्रमुख उदाहरण है।
- द्विवेदी युग (तुलनात्मक और परिष्कृत आलोचना): 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आलोचना को एक व्यवस्थित रूप दिया। इसी काल में पद्मसंह शर्मा, लाला भगवानदीन और कृष्ण बिहारी मश्र ने देव और बिहारी की तुलना कर 'तुलनात्मक आलोचना' को लोकप्रिय किया।
- शुक्ल युग (शास्त्रीय और व्यवस्थित रूप): आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी आलोचना को मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय आधार प्रदान किया। उन्होंने 'लोकमंगल की भावना' और 'शील विकास' को काव्य का उद्देश्य मानकर सूर, तुलसी और जायसी का उत्कृष्ट मूल्यांकन किया।
- शुक्लोत्तर युग (विविध धाराओं का विकास): आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी आलोचना मुख्य रूप से तीन धाराओं में बँट गई—
 1. स्वच्छंदतावादी आलोचना: आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और डॉ. नगेंद्र ने छायावादी काव्यों का सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यांकन किया।
 2. मार्क्सवादी (प्रगतिशील) आलोचना: राम विलास शर्मा और शिवदान सिंह चौहान ने साहित्य को सामाजिक यथार्थ और वर्ग-संघर्ष की कसौटी पर परखा।
 3. मनोवश्लेषणवादी और शोधपरक आलोचना: इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय आदि ने मनोवैज्ञानिक आधार पर तथा विश्वविद्यालयों में शोध प्रबंधों के माध्यम से अनुसंधानपरक आलोचना का विकास हुआ। हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे स्वतंत्र विचारकों ने भी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आलोचना को समृद्ध किया।

34. 'सैद्धांतिक आलोचना' कसे कहते हैं? साहित्य में इसका क्या महत्व है?

सैद्धांतिक आलोचना का अर्थ: 'सैद्धांतिक आलोचना' समीक्षा का वह रूप है जिसके अंतर्गत साहित्य और काव्य के प्रामाणिक और शास्त्रीय नियमों, सद्धांतों तथा मापदंडों का निर्धारण किया जाता है। इसमें काव्य के तत्त्व, हेतु, प्रयोजन, भेदोपभेद, लक्षण व स्वरूप, रचना-प्रक्रिया, कव, समीक्षक, पाठक और काव्य-शिल्प जैसे विषयों का स्वतंत्र और संश्लिष्ट विवेचन किया जाता है।

साहित्य में सैद्धांतिक आलोचना का महत्व:

- काव्यशास्त्रीय मूल्यों का निर्धारण: यह आलोचना साहित्य की विभिन्न विधाओं को परखने के लिए एक निश्चित और प्रामाणिक पैमाना (मापदंड) तैयार करती है। इसी के आधार पर व्यावहारिक आलोचना की जाती है।
- भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का समन्वय: आधुनिक सैद्धांतिक आलोचना ने भारतीय काव्यशास्त्र (रस, ध्वनि, वक्रोक्ति) और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सद्धांतों का समन्वय कर साहित्य को एक नई दृष्टि प्रदान की है।
- व्यापक दृष्टिकोण का विकास: आज जब साहित्य की परिधि देशकाल की सीमाओं को लाँघकर अत्यंत विस्तृत हो गई है, तब सैद्धांतिक आलोचना रचना-प्रक्रिया का सूक्ष्म विवेचन कर साहित्य को दिशा-निर्देश करती है।
- प्रमुख ग्रंथ और योगदान: हिन्दी में बाबू गुलाबराय ('नवरस', 'सद्धांत और अध्ययन'), आचार्य रामचंद्र शुक्ल ('चिंतामण', 'रस मीमांसा'), डॉ. नगेंद्र ('रस सद्धांत'), और डॉ. भगीरथ मश्रू जैसे विद्वानों ने सैद्धांतिक आलोचना के माध्यम से साहित्य को दार्शनिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया है।

35. 'स्वच्छंदतावादी आलोचना' की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं?

स्वच्छंदतावादी आलोचना का उदय शास्त्रीय और परंपरावादी विचारधारा के विरोध में हुआ। हिन्दी में इसका प्रस्फुटन छायावादी कृतियों (प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी) के मूल्यांकन के प्रयास के रूप में हुआ।

स्वच्छंदतावादी आलोचना की प्रमुख विशेषताएँ:

- साहित्य की स्वतंत्र सत्ता की स्वीकृति: इस आलोचना का सबसे केंद्रीय तत्त्व यह है कि साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता और प्रक्रिया होती है। इसका मूल्यांकन बाहरी, स्थूल या कठोर बौद्धिक-नैतिक नियमों से नहीं किया जा सकता।
- सौंदर्यबोध और आनंद की प्रधानता: यह आलोचना लोकमंगल या कठोर नैतिकता के स्थान पर काव्य में अंतर्निहित सौंदर्य, कल्पना-चारुता और आनंद को अधिक महत्व देती है।
- कव के व्यक्तित्व और आत्म-चेतना का सम्मान: स्वच्छंदतावादी समीक्षक मानते हैं कि काव्य मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। इसमें कव के व्यक्तित्व, भावप्रवणता और स्वतंत्र प्रकृति का सम्मान किया जाता है।

- पाश्चात्य रोमांटिक समीक्षा से साम्य: यह आलोचना अंग्रेजी के 'रोमांटि सज्म' (वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शेली) से गहराई से प्रभा वत है। इसमें प्रकृति के प्रति वस्मय, रहस्य भावना और मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रमुखता दी जाती है।
- प्रमुख उन्नायक: आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र और शांति प्रय द् ववेदी इसके प्रमुख स्तंभ हैं। वाजपेयी जी ने शुक्ल जी की 'लोकमंगल' की धारणा को लाँघकर छायावादी क वयों को सांस्कृतिक और सौंदर्यबोधक दृष्टि से प्रतिष्ठित कया।

36. 'मार्क्सवादी आलोचना' से आप क्या समझते हैं? हिन्दी साहित्य पर इसका क्या प्रभाव पड़ा?

मार्क्सवादी आलोचना का अर्थ: मार्क्सवादी आलोचना कार्ल मार्क्स के 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' और 'वर्ग-संघर्ष' के दर्शन पर आधारित है। यह आलोचना प्रणाली मानती है क समाज के सभी संबंधों और चेतना के मूल में अर्थव्यवस्था होती है। इसके अंतर्गत समीक्षक की दृष्टि समाज के आ र्थक वैषम्य (असमानता) पर केंद्रित रहती है। यह आलोचना साहित्य में 'आत्मा भव्यक्ति' (Self-expression) के सद्धांत को नकारकर 'सामाजिक यथार्थ की अ भव्यक्ति' को ही प्रगतिशीलता की सच्ची कसौटी मानती है।

हिन्दी साहित्य पर इसका प्रभाव:

- यथार्थवाद और सर्वहारा वर्ग का चत्रण: इस आलोचना ने साहित्य को कल्पना के आसमान से उतारकर ठोस सामाजिक यथार्थ से जोड़ दिया। इसमें शो षत (सर्वहारा) वर्ग के प्रति सहानुभूति और पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति संघर्ष को साहित्य का मुख्य वषय बनाया गया।
- नव-मानवतावाद की प्रतिष्ठा: डॉ. राम वलास शर्मा ने निराला की आलोचना करते हुए यह सद्ध कया क साहित्य का उद्देश्य द लतों और उपे क्षतों को उनका अ धकार दिलाना और व्यवस्था में बदलाव लाना है। इसने साहित्य में एक 'नव-मानवतावाद' की प्रतिष्ठा की।
- आध्यात्मिक व कलावादी दृष्टिकोण का वरोध: इसने कला कला के लए, कोरे अध्यात्मवाद और निष्पक्ष रसात्मक भावना की उपेक्षा की, जिससे साहित्य समाज की आ र्थक और भौतिक समस्याओं के प्रति अ धक जवाबदेह बना।
- प्रमुख आलोचक: शवदान संह चौहान, डॉ. राम वलास शर्मा, प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव और मुक्तिबोध जैसे आलोचकों ने इस वचारधारा को हिन्दी साहित्य में स्था पत कया। मुक्तिबोध ने इसे नए आयाम देते हुए भारतीय परिप्रेक्ष्य में ऊर्जा प्रदान की।

37. 'मनो वश्लेषणवादी आलोचना' का अर्थ और इसकी प्रमुख बातें सरल शब्दों में बताइए।

मनो वश्लेषणवादी आलोचना का अर्थ: मनो वश्लेषणवादी आलोचना वह समीक्षा पद्धति है जो फ्रायड, एडलर और जुंग जैसे मनोवैज्ञानिकों के सद्धांतों पर आधारित है। मनो वज्ञान मानव की मान सक क्रयाओं का वश्लेषण करता है। इस आलोचना पद्धति का मुख्य उद्देश्य रचनाकार के मन:स्तरों, उसकी आंतरिक प्रवृ त्तयों और अवचेतन मन का गहरा अध्ययन करना होता है।

मनो वश्लेषणवादी आलोचना की प्रमुख बातें:

- मान सक ग्रंथों की अ भव्यक्ति: इस आलोचना के अनुसार, साहित्य या कला कोई ईश्वरीय देन नहीं, बल्कि मनुष्य की द मत वासनाओं (Suppressed desires), हीन-ग्रंथों से मुक्ति पाने की छटपटाहट और प्रबल जिजी वषा की अ भव्यक्ति है।
- लेखक के व्यक्तित्व का वश्लेषण: इसमें आलोचक कसी कृति का मूल्यांकन करने के लए लेखक के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं, उसके बचपन की कुंठाओं और समकालीन परिवेश का पृष्ठभूम के रूप में उपयोग करता है।
- सामूहिक अचेतन का प्रभाव: जब कसी युग का दृष्टिकोण पुराना हो जाता है, तब समाज का 'सामूहिक अचेतन' स क्रय होता है और कोई प्रतिभावान साहित्यकार उसी अचेतन से प्रेरित होकर युग की नई आवश्यकता को साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत करता है।
- प्रमुख आलोचक और सीमाएँ: इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, डॉ. नगेंद्र और डॉ. देवराज उपाध्याय इसके प्रमुख समीक्षक हैं। इलाचंद्र जोशी ने भक्ति साहित्य को द मत काम-कुंठाओं से और अज्ञेय ने कला को हीनता की अनुभूति के वरुद्ध एक 'वद्रोह' से जोड़कर देखा।
- सीमा (दोष): यह आलोचना पूरी तरह से कुंठाओं और द मत वासनाओं पर केंद्रित होने के कारण एकांगी हो जाती है। यह कभी-कभी रचना के कलात्मक सौंदर्य की उपेक्षा कर केवल लेखक की निजी मनोवैज्ञानिक उलझनों में उलझ कर रह जाती है।

इकाई - VII : समीक्षा की वचारधाराएँ

38. 'नई समीक्षा' क्या है? इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

बीसवीं शती में दो विश्वयुद्धों के बाद नैतिक मूल्यों के पतन और वैज्ञानिक प्रभाव के कारण साहित्य की समीक्षा को भी वैज्ञानिक और वस्तुपरक बनाया जाने लगा। इसी दौर में 'नई समीक्षा' (New Criticism) का उदय हुआ। सर्वप्रथम प्रो. स्पीलगार्न ने ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और जीवनीमूलक आलोचना पद्धतियों को नकारते हुए 'नई समीक्षा' शब्द का प्रयोग किया। टी. एस. इलियट और आई. ए. रिचर्ड्स की मान्यताओं ने इसकी आधार शला रखी, और जॉन क्रो रैनसम की पुस्तक 'नई आलोचना' से यह वधवत प्रतिष्ठित हुई।

प्रमुख विशेषताएँ:

- कृति पर पूर्ण ध्यान: रिचर्ड्स और इलियट का मानना था कि आलोचक का ध्यान केवल 'क वता' पर केंद्रित होना चाहिए। नई समीक्षा रचना को एक पूर्णतः 'स्वायत्त भाषक संरचना' मानकर उसके भाषक-वश्लेषण पर अत्यधिक बल देती है।
- काव्य एक भाषक संरचना: इसके अनुसार काव्य केवल एक भाषक संरचना है, इस लए भाषा के सर्जनात्मक तत्वों का वश्लेषण ही समीक्षा का मुख्य धर्म है।
- बाह्य दृष्टिकोणों का निषेध: नई समीक्षा ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, दार्शनिक और मनोवश्लेषणवादी समीक्षा पद्धतियों को साहित्य के मूल्यांकन के लए अप्रासंगिक मानती है।
- गहन पाठ (Close Reading): रचना की आंतरिक संगति और संश्लिष्ट वधान के ववेचन एवं वश्लेषण के लए उसका 'गहन पाठ' नितांत आवश्यक माना गया है।
- सीमाएँ: आर. एम. क्रेन जैसे आलोचकों ने स्पष्ट किया कि यह पद्धति छोटी क वताओं के भाषक वश्लेषण के लए तो उपयुक्त है, किंतु प्रबंध-काव्यों और नाटकों के लए अनुपयोगी है। इसे अत्यधिक वैज्ञानिक बनाने के प्रयास में आलोचना का मानवीय स्वरूप गणत जैसा हो जाने का खतरा रहता है।

39. साहित्य में 'यथार्थवाद' से आप क्या समझते हैं? वस्तार से समझाइए।

यूरोप में 'यथार्थवाद' का जन्म स्वच्छंदतावाद के वरोध में हुआ। स्वच्छंदतावादी रचनाकार वास्तविक जगत से परे कल्पनालोक में वचरण करते थे और उनके पात्र अवास्तविक होते थे; इसी की प्रतिक्रिया में वास्तविक जीवन के चित्रण की प्रवृत्ति ने यथार्थवाद को जन्म दिया। वैज्ञानिक मान्यताओं के अनुसार दृश्यमान जगत भौतिक कार्य-कारण का परिणाम है, किसी परोक्ष सत्ता का नहीं; इसी वचारधारा ने यथार्थवादी साहित्य को पुष्ट किया।

- उद्भव और वकास: फ्रेंच रचनाकार फ्लावेयर की कृति 'मादाम बावेरी' से यथार्थवादी कला का आरंभ माना जाता है। बाद में बाल्जाक और जोला ने इसे 'प्रकृतवाद' के रूप में वकसत किया, जिसमें मानव जीवन की नग्न वास्तविकता का चित्रण था। रूस में टालस्टॉय, गोगोल और गोर्की ने इसे 'सामाजिक

यथार्थवाद' का रूप दिया, जब क फ्रांस में चार्ल्स बोदलेयर और आंद्रे बेतों ने मनोजगत की वक्तवियों को दर्शाने वाले 'अतिथार्थवाद' का प्रवर्तन किया।

- हिन्दी साहित्य में प्रभाव: हिन्दी में यथार्थ चित्रण का आरंभ भारतेन्दु के नाटकों से होता है। प्रेमचंद के उपन्यासों में यह निखरा, और अशक तथा यशपाल के साहित्य में और गहरा हुआ। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्यांदोलनों में यथार्थवाद पर विशेष बल दिया गया।
- यथार्थवाद का स्वरूप: यह अलौकिक या काल्पनिक घटनाओं का चित्रण न होकर, नित्य प्रति जीवन में अनुभूत होने वाली सहज, परिचित और वास्तविक स्थितियों का चित्रण है। यह धरती के ठोस और खुरदुरे जीवन को उभारता है। यथार्थवाद का अर्थ केवल कुत्सित या वीभत्स चित्रण नहीं है; यह वाद-मुक्त ठोस वास्तविकता का साहित्यिक प्रस्तुतीकरण है।

40. 'अ भजात्यवाद' और 'नव्यअ भजात्यवाद' में क्या अंतर है? स्पष्ट करें।

साहित्य और कला के क्षेत्र में 'अ भजात्यवाद' और 'नव्यअ भजात्यवाद' दोनों ही अत्यंत महत्वपूर्ण विचारधाराएँ हैं। यद्यपि नव्यअ भजात्यवाद का जन्म प्राचीन अ भजात्यवाद की मान्यताओं को पुनर्जीवित करने के लिए ही हुआ था, फिर भी इन दोनों में स्पष्ट और तात्त्विक अंतर मौजूद हैं:

1. कालखंड (समय) का अंतर:

- अ भजात्यवाद: इसका संबंध प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य तथा दर्शन (ईसा पूर्व 5वीं सदी से लेकर ईसवी की प्रारंभिक सदियों तक) से है।
- नव्यअ भजात्यवाद: यह 17वीं और 18वीं शताब्दी में यूरोप (विशेषकर फ्रांस और इंग्लैंड) में विकसित हुआ एक परिवर्ती साहित्यिक आंदोलन है।

2. मूल लक्ष्य बनाम अनुकरण:

- अ भजात्यवाद: यह मूल लक्ष्य, जीवित और स्वाभाविक था। इसमें मानव जीवन के शाश्वत सत्यों का प्रथम बार अत्यंत संतुलित और कलात्मक रूप में अन्वेषण किया गया था।
- नव्यअ भजात्यवाद: यह मूल रूप से 'अनुकरणवादी' (Imitative) था। इसमें प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्यकारों (जैसे होमर, वर्जिल) द्वारा बनाए गए नियमों की केवल नकल की गई।

3. नियमों की कठोरता (रूढ़िवादिता):

- अ भजात्यवाद: इसमें नियम केवल 'साधन' थे, साध्य नहीं। यहाँ नियमों और संयम का पालन सहजता और लोचशीलता के साथ होता था।
- नव्यअ भजात्यवाद: इसमें नियम अत्यंत कठोर और यांत्रिक हो गए। इसमें 'औचित्य' (Decorum) और 'तीन अन्वितियों' (समय, स्थान और कार्य की अन्विति) का पालन इतना अनिवार्य कर दिया गया कि साहित्य में एक प्रकार की कृत्रिमता और जकड़न आ गई।

4. भाव और बुद्धि का संतुलन:

- अ भजात्यवाद: इसमें बुद्धि (ववेक) और हृदय (भावना) का एक सुंदर और सहज संतुलन देखने को मिलता है।

- नव्य अ भजात्यवाद: इसमें बुद्धि, तर्क (Reason) और 'वदग्धता' (Wit) को इतना अधिक महत्त्व दिया गया कि साहित्य से भावना, कल्पना और रागात्मकता लगभग समाप्त हो गई।

5. प्रमुख वचारक:

- अ भजात्यवाद के प्रमुख उन्नायक प्लेटो, अरस्तू, होरेस और लॉजाइनस जैसे प्राचीन वचारक हैं।
- नव्य अ भजात्यवाद के प्रमुख वचारकों में जॉन ड्राइडन, अलेक्जेंडर पोप, डॉ. जॉनसन और फ्रांसीसी वद्वान ब्वायलो (Boileau) का नाम प्रमुखता से आता है।

संक्षेप में, अ भजात्यवाद जहाँ एक जीवंत, मौलिक और संतुलित शास्त्रीय दृष्टि है, वहीं नव्य अ भजात्यवाद उसी का एक कठोर, कृत्रिम और अनुकरणात्मक रूप है।

41. 'कलावाद' वचारधारा का सरल भाषा में वर्णन कीजिए।

'कलावाद' कला के क्षेत्र में धार्मिकता, नैतिकता और उपयोगितावाद का घोर विरोधी आंदोलन है।

- उद्भव और समर्थक: उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांस में चित्रकार जेम्स एबॉट मैकनील विल्स्टर ने 'कला कला के लिए है' सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसे क्लाइव बेल, रोजर फ्राई और 20वीं शती में इटली के क्रोचे (अ भव्यजनावाद) का प्रबल समर्थन मिला।
- विरोधी वचारधाराएँ: डॉ. जॉनसन, रस्किन और मैथ्यू आर्नल्ड इसके विरोधी थे। आर्नल्ड के अनुसार "जो कविता नैतिक मूल्यों से विद्रोह करती है, वह वस्तुतः जीवन से विद्रोह करती है"। मार्क्सवादी वचारधारा (उपयोगितावाद) इसका विरोध करती है, जबकि अस्तित्ववादी वचारधारा इसका समर्थन करती है।
- हिन्दी साहित्य में स्थिति: हिन्दी का 'भक्तिकाल' नैतिक मूल्यों का तथा 'रीतिकाल' कलावाद का समर्थक है। छायावादी कविता एक सीमा तक कलावादी है, जबकि प्रगतिवादी कविता उपयोगितावादी है। द्विवेदी युग के 'लोकमंगल' काव्यमूल्य ने कलावाद और क्रोचे के अ भव्यजनावाद का विरोध किया।
- मूल मंतव्य: कला मानव की सौंदर्य चेतना की बोधक है। अनुभूति की प्रगाढ़ता जब अ भव्यव्यक्ति का मार्ग ढूँढती है, तब कला का जन्म होता है। कलावाद का मानना है कि कला का अपना कोई बाहरी उपदेशात्मक उद्देश्य नहीं होता। हालांकि, जब कला केवल रूपवादी होकर समाज से कट जाती है (जैसे केशवदास का काव्य), तो वह अर्थहीन हो जाती है। माखनलाल चतुर्वेदी के शब्दों में, "जब देश की जवानी जल रही हो, तो कला बाँसुरी नहीं बजा सकती"। अतः कलावाद और उपयोगितावाद में उचित सामंजस्य आवश्यक है।

42. कविता में 'बिम्बवाद' और 'प्रतीकवाद' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

बिम्बवाद :

- अर्थ: किसी वस्तु की मानसिक प्रतिकृति ही उसका 'बिम्ब' है। डॉ. केदारनाथ सिंह के अनुसार, बिम्ब वह शब्द-चित्र है जो कल्पना द्वारा ऐंद्रिय अनुभवों (रूप, रस, गंध, स्पर्श) के आधार पर निर्मित होता है। काव्य में भाव और वचार सघन होकर जब इस प्रकार मूर्त होते हैं कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत को

अलग न किया जा सके, तब वास्तविक बिम्ब बनता है (जैसे प्रसाद की कामायनी में: "रक्त कसल पर ले वश्राम...")।

- वचारधारा: इसका जन्म 20वीं शती के आरंभ में इंग्लैंड में रोमांटिक आंदोलन की अतिशयता के वरुद्ध हुआ। टी. ई. ह्यूम, एजरा पाउंड और एमी लोवेल इसके प्रमुख सूत्रधार थे। हालांकि, जब कविता को केवल बिम्ब रचना का साधन मान लिया जाता है, तो काव्य की यथार्थ भूमि संकुचित हो जाती है, जो अनुचित है।

प्रतीकवाद :

- अर्थ: जब कोई वस्तु अपने रूप या गुणों की समानता के आधार पर किसी भाव, वचार, जाति या संस्कृति का संकेत या प्रतिनिधित्व करती है, तो वह 'प्रतीक' कहलाती है (जैसे राष्ट्रध्वज)। डॉ. नगेंद्र के अनुसार, "जब उपमान स्वतंत्र रहकर पदार्थ विशेष के लिए रूढ़ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है"।
- वचारधारा: साहित्यिक आंदोलन के रूप में इसका आरंभ 19वीं सदी के अंत में फ्रांस (बादलेयर, वर्लेन, मलार्मे) में प्रकृतवादियों के नग्न यथार्थ की प्रति क्रिया स्वरूप हुआ। इसमें आध्यात्मिक मूल्यों की अभिव्यक्ति अमूर्त प्रतीकों के रूप में की जाती है। हिन्दी के छायावादी काव्य में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ (जैसे पंत की 'प्रथम-रश्मि' नवीन चेतना का, और निराला के 'बादल' क्रांति के प्रतीक हैं)।

43. 'संरचनावाद' और 'उत्तरसंरचनावाद' वचारधारा की प्रमुख बातें सरल शब्दों में लखिए।

संरचनावाद :

- अर्थ: यह भाषक दृष्टि से साहित्य के मूल्यांकन का प्रतिमान है। स्टीफन मलार्मे, इलयट आदि आलोचक कथ्य से अधिक 'भाषा' की बनावट पर बल देते हैं। संरचनावाद मानता है कि किसी साहित्यिक कृति में भाषा की बनावट (संरचना) उसकी अर्थवत्ता से गहराई से जुड़ी होती है।
- प्रमुख तत्व: संरचना की अवधारणा तीन तत्वों पर आधारित है: 1. अखंडता (कृति के अंगों में आंतरिक संगति), 2. प्रयोजन (शब्द का विशिष्ट संदर्भ में प्रयोग), 3. स्वायत्तता (संरचना अपने अर्थ के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं होती)।
- मान्यताएँ: यह भाषा वदसस्यूर के सद्धांतों (परोल और लेंगुई) पर आधारित है। रूपवादी समीक्षक रोलां बार्थ के अनुसार "अर्थ लेखक के पास न होकर पाठ की संरचना में निहित होता है"। यह लेखकीय अनुभव को गौण मानकर केवल 'पाठ' निर्माण पर बल देता है।

उत्तरसंरचनावाद

- अर्थ: यह संरचनावाद का ही अगला और विकसित चरण है, जिसका विकास 1970 के दशक में फ्रांस में हुआ। लाका और देरिदा जैसे वचारकों ने संरचनावाद की निरंकुशता (मानव समाज को मशीन समझने की प्रवृत्ति) पर प्रश्न चिह्न लगाया।
- प्रमुख बातें: यह भी भाषकीय संबंध समीक्षा है, लेकिन इसमें संचार और संप्रेषण की जटिलता पर बल दिया गया है। इसमें वक्ता का अभिप्राय और श्रोता की समझ को अलग-अलग माना जाता है;

श्रोता संदेश को पूरा, अधूरा या कुछ और भी समझ सकता है। भाषा एक सामाजिक तथ्य है जो समुदाय के बोलने-समझने से बंधी होती है। यह वचारधारा पाठ के 'वखंडन' पर अत्यधिक बल देती है।

44. समीक्षा के क्षेत्र में 'वखंडन' की वचारधारा से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।

समीक्षा के क्षेत्र में 'वखंडन' उत्तर-संरचनावाद की एक प्रमुख भाषाई रणनीति और वचारधारा है, जिसके प्रमुख प्रवर्तक 'देरिदा' हैं।

- मूल अवधारणा: नई समीक्षा जहाँ कृति की 'अखंडता' पर बल देती है, वहीं वखंडन कृति की समग्रता को खंडित कर 'उपपाठों' की तलाश पर बल देता है। यह परंपरावादी पाश्चात्य दर्शन का निषेध करता है।
- लेखन की प्राथमिकता: देरिदा ने सस्यूर की इस धारणा को भ्रामक माना कि भाषा का बोला हुआ रूप जीवंत होता है और लिखित रूप द्वितीय श्रेणी का है। देरिदा के अनुसार 'लेखन' ही भाषा की पूर्व शर्त है; अर्थ की स्थिति पहले होती है और शब्द का चयन बाद में।
- पाठक की सत्ता: वखंडनवाद सर्जक और समीक्षक में कोई भेद नहीं मानता। इसके अनुसार, अर्थ का निर्णायक 'लेखक' नहीं अपितु 'पाठक' और उसके पढ़ने की पद्धति होती है। एक ही पाठ (Text) की दो या अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं।
- रणनीति: यह एक ऐसी रणनीति है जो पाठ की संरचना को अलग-अलग करके उन अर्थों पर ध्यान केंद्रित करती है जो अब तक छिपे हुए थे। उदाहरण के लिए, किसी पाठ को 'स्त्रीवादी दृष्टि' से पढ़ने पर पुरुष मनोवृत्त के पाठ का पूरा अर्थ बदल जाता है।
- अस्थायित्व: वखंडन मानता है कि पाठ हर बार पढ़े जाने पर नया अर्थ देता है, इस लिए पठन की कोई भी प्रक्रिया स्थायी या अंतिम नहीं होती, वह केवल तात्कालिक होती है। देरिदा ने वखंडन के तीन सूत्र दिए हैं: भ्रमन्ता (स्थगन), निशान (चहल), और आद्य लेखन।

इकाई - VIII : आलोचक एवं आलोचना दृष्टि

45. रामचन्द्र शुक्ल के निबंध 'साहित्य में मंगल' का मूल भाव अपने शब्दों में ल खए।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के सर्वश्रेष्ठ और मौलिक रसवादी आलोचक माने जाते हैं। उनके निबंध 'साहित्य में मंगल' (काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था) का मूल भाव समाज के कल्याण और धर्म की स्थापना से जुड़ा है। शुक्ल जी की दृष्टि में सदसाहित्य की सबसे बड़ी कसौटी 'लोकमंगल की भावना' है। जो साहित्य इस भावना से स्पंदित और अनुप्राणित होता है, वही सच्चे अर्थों में साहित्य कहलाने का अधिकारी है। उनके अनुसार, सच्ची कविता मनुष्य के हृदय को उसके संकुचित स्वार्थों के घेरे से बाहर निकालकर 'लोक-सामान्य भावभूमि' पर प्रतिष्ठित करती है।

जब व्यक्ति का लोक के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है, तब लोकमंगल का वधान अनिवार्य रूप से होता है। शुक्ल जी स्पष्ट करते हैं कि लोकमंगल की साधना तभी संभव है जब समाज से अन्याय, अनाचार और अत्याचार के निराकरण का सक्रिय प्रयास किया जाए। वे बताते हैं कि राम द्वारा रावण का वध कर देना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किया गया संपूर्ण क्रियाकलाप और संघर्ष है। यह संघर्ष लोक में 'कर्म' के प्रति गहरी आस्था जगाता है और मानवमात्र को प्रेरणा देता है। इसी जनकल्याणकारी भावना के कारण शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास को सर्वश्रेष्ठ कवि माना है। इसके विपरीत, वे रीतिकालीन शृंगारी कविता को उच्च कोटि का नहीं मानते, क्योंकि उसका लोकमंगल या सामाजिक सरोकारों से कोई सीधा संबंध नहीं था।

46. मुंशी प्रेमचंद के अनुसार 'साहित्य का उद्देश्य' क्या होना चाहिए? वस्तुतः से समझाइए।

मुंशी प्रेमचंद ने वर्ष 1936 में लखनऊ में आयोजित 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में 'साहित्य का उद्देश्य' विषय पर अपने विचार बहुत ही स्पष्ट और क्रांतिकारी ढंग से प्रस्तुत किए थे। प्रेमचंद के अनुसार, साहित्य केवल मनोरंजन, विलासिता या मन बहलाव की वस्तु नहीं है, बल्कि यह समाज को दिशा दिखाने वाली मशाल है। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि "साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है।"

प्रेमचंद जी का मानना था कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य समाज की दबी-कुचली, शोषित और पीड़ित जनता की आवाज़ बनना है। जो साहित्य हमारे भीतर गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा न करे, जो हमें सुलाए रखे, वह साहित्य कहलाने योग्य नहीं है। उनके अनुसार, हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो और जो जीवन की सच्चाइयों पर प्रकाश डाले। प्रेमचंद मानते थे कि साहित्यकार स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है; वह समाज में व्याप्त अंध विश्वासों, रूढ़ियों, और आर्थिक-सामाजिक विषमताओं के खिलाफ आवाज़ उठाता है। 'साहित्य का उद्देश्य' निबंध में उन्होंने कला को 'कला के लिए' मानने वाले सद्धांत (कलावाद) का कड़ा विरोध किया। वे कहते हैं कि साहित्य को समाज की उपयोगिता की कसौटी पर कसा जाना चाहिए। साहित्य का काम केवल सुंदरता का वर्णन करना नहीं है, बल्कि उस सुंदरता को समाज के झोपड़ों और पसीने से लथपथ मजदूरों के चेहरों पर भी देखना है।

संक्षेप में, साहित्य का अंतिम लक्ष्य मानव मुक्ति और एक शोषणमुक्त समतामूलक समाज की स्थापना करना है।

47. जयशंकर प्रसाद के निबंध 'छायावाद और यथार्थवाद' की प्रमुख बातों पर प्रकाश डालें।

- जयशंकर प्रसाद का निबंध 'छायावाद और यथार्थवाद' हिंदी आलोचना में एक अत्यंत महत्वपूर्ण वैचारिक निबंध है, जिसमें उन्होंने साहित्य की इन दोनों प्रमुख प्रवृत्तियों का तात्त्विक और दार्शनिक ववेचन किया है। प्रसाद जी ने इस निबंध में छायावाद पर लगे उन आक्षेपों का निवारण किया है जिनमें उसे केवल अस्पष्ट और पलायनवादी कहा जाता था।
- प्रसाद जी के अनुसार, छायावाद क काल में आंतरिक अनुभूतियों, सौंदर्य और सूक्ष्म भावों की सहज अभिव्यक्ति है। जब द्वेदी युग की क काल अत्यंत धक स्थूल, उपदेशात्मक और वर्णनात्मक (इतिवृत्तात्मक) हो गई थी, तब उसके वरोध में आत्मा की सूक्ष्म और मा र्मक अनुभूतियों को प्रकट करने के लए छायावाद का जन्म हुआ। प्रसाद जी 'वेदना' को छायावाद का एक प्रमुख आधार मानते हैं, जो मनुष्य को शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंध में बाँधती है। दूसरी ओर, यथार्थवाद की व्याख्या करते हुए प्रसाद जी बताते हैं क यथार्थवाद जीवन की क्षुद्रताओं, वषमताओं, दुख-दर्द और समाज की नग्न सच्चाइयों का चित्रण करता है। यथार्थवाद का जन्म समाज में व्याप्त पाखंड और वषमता के कारण होता है। यथार्थवादी साहित्यकार समाज की बुराइयों और यथार्थ को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देता है।
- प्रसाद जी का मानना है क साहित्य में न तो केवल स्थूल यथार्थ पर्याप्त है और न ही केवल अमूर्त कल्पना। वे एक ऐसे 'आदर्शान्मुख यथार्थवाद' के पक्षधर प्रतीत होते हैं, जहाँ जीवन की कठोर सच्चाइयों (यथार्थ) के साथ-साथ मानवीय करुणा और सौंदर्य (छायावादी दृष्टि) का भी सुंदर समन्वय हो।

48. हजारीप्रसाद द्वेदी की 'आधुनिक साहित्य: नई मान्यताएं' के आधार पर उनके वचार लखें।

- आचार्य हजारीप्रसाद द्वेदी ने अपने निबंध 'आधुनिक साहित्य: नई मान्यताएं' में आधुनिक साहित्य के वैचारिक आधारों का ऐतिहासिक वश्लेषण किया है। द्वेदी जी का स्पष्ट मत है क आधुनिक साहित्य की नई मान्यताएँ जीवन की नई मान्यताओं से वच्छिन्न (अलग) नहीं हैं।
- भारत का आधुनिक साहित्य यूरोपीय संपर्क के बाद वक सत हुआ। वज्ञान के उदय और वशेष रूप से डा र्वन के 'वकासवाद' के सद्धांत ने मनुष्य को जीवन और जगत को समझने की एक बिल्कुल नई वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की। इस नई दृष्टि के कारण समाज में धर्म, परंपरा और 'श्रुति' (शास्त्रों) के अंधानुकरण के स्थान पर 'मनुष्य की तर्कबुद्धि' को अधिक प्रामाणिक माना जाने लगा। द्वेदी जी के अनुसार, आधुनिक युग और साहित्य का सबसे व्यापक वश्वास 'नव मानवतावाद' है। मनुष्य ने पुरानी रूढ़ियों पर अधिक वश्वास किया, ले कन 'मनुष्य' की गरिमा और उसके मूल्यों पर उसका वश्वास कायम रहा।

- द्रववेदी जी यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या पश्चिम का वह मानवतावाद सच्चा है जो मनुष्य को वनाश के गर्त में धकेल रहा है? इसके समाधान के रूप में वे 'सामाजिक मानवतावाद' की स्थापना पर बल देते हैं। उनका मानना है कि सच्चे साहित्य को 'समष्टि मनुष्य' (संपूर्ण समाज) को आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक शोषण से मुक्त करने का प्रयास करना चाहिए। यह निबंध हिन्दी आलोचना को एक प्रगतिशील, उदार और गहरी मानवतावादी दृष्टि प्रदान करता है।

49. डॉ. नगेन्द्र की 'मेरी साहित्यिक मान्यताएं' के आधार पर उनकी आलोचना दृष्टि को समझाइए।

- डॉ. नगेन्द्र हिन्दी के एक मूर्धन्य रसवादी और मनोवैज्ञानिक आलोचक हैं। उनके निबंध 'मेरी साहित्यिक मान्यताएं' में उनकी संपूर्ण आलोचना दृष्टि का सार प्रस्तुत हुआ है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, साहित्यिक आलोचना भी 'ललित कला' का ही एक अंग है, जिसकी प्रक्रिया वैज्ञानिक और वश्लेषणात्मक होती है।
- वे कविता को मूलतः 'आत्मा भव्यव्यक्ति' मानते हैं और काव्य का अंतिम प्रयोजन 'आनंद की साधना' को स्वीकार करते हैं। डॉ. नगेन्द्र का सबसे बड़ा योगदान 'रससद्धान्त' का मनोवैज्ञानिक पुनराख्यान है। वे मानते हैं कि रससद्धान्त एक सार्वभौम और शाश्वत सद्धान्त है जो मानववाद के सुदृढ़ आधार पर टिका है। उनकी आलोचना दृष्टि इतनी समन्वयकारी है कि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र (अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति) के साथ-साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र (स्वच्छंदतावाद, अभव्यंजनावाद) और फ्रायड के मनोवज्ञान को भी रससद्धान्त की व्यापक परिधि में समेट लिया है।
- काव्य की अभव्यव्यक्ति के संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र 'बिम्ब' और 'छंद' को सबसे प्रमुख तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार, अनुभूति मूलतः मन या हृदय का अमूर्त वषय होती है। इस अमूर्त अनुभूति को इंद्रियग्राह्य (मूर्त) बनाने और श्रोता तक पहुँचाने में बिम्ब और छंद ही सबसे अधिक सहायक होते हैं। कवि का अपनी अनुभूति को मूर्त बनाने का यह सचेत प्रयास ही कला-साधना है।

50. राम वलास शर्मा की पुस्तक 'तुलसी साहित्य में सामन्त वरोधी मूल्य' के वचारों को स्पष्ट करें तथा नामवर सिंह ('कहानी नयी और पुरानी') एवं मुक्तिबोध ('नई कविता का आत्मसंघर्ष') की आलोचना दृष्टि का सार बताइए।

- डॉ. राम वलास शर्मा एक प्रमुख प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) आलोचक हैं, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'तुलसी साहित्य में सामन्त वरोधी मूल्य' में प्रगतिशील दृष्टि से तुलसीदास का मूल्यांकन किया है। शर्मा जी के अनुसार, तुलसीदास मूलतः एक 'मानववादी' कवि थे और मानववाद स्वभाव से ही सामन्तवाद का वरोधी होता है। सामन्ती व्यवस्था में वर्ण और जाति के कठोर बंधन थे, लेकिन तुलसी की भक्ति ने कोल, करात, निषाद और शबरी जैसी शोषित जातियों को गले लगाकर समानता का संदेश दिया। तुलसी का दर्शन भाववादी न होकर 'वस्तुवादी' था, इसी लिए उन्होंने समाज की दरिद्रता का यथार्थ

चित्रण किया और शोषक वर्ग के कुशासन पर प्रहार किया। उन्होंने स्त्रियों की पराधीनता का वरोध करते हुए पुरुषों के लिए भी 'एक नारी व्रत' का आदर्श रखा।

- दूसरी ओर, डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक 'कहानी नयी और पुरानी' आधुनिक हिन्दी कहानी की समाजशास्त्रीय और यथार्थवादी आलोचना का प्रतिमान है। नामवर सिंह की दृष्टि में 'नई कहानी' केवल शल्प का चमत्कार नहीं है, बल्कि वह स्वतंत्रता के बाद के मध्यवर्गीय जीवन की जटिलताओं, टूटते पारिवारिक रिश्तों, शहरीकरण के यथार्थ और व्यक्ति के अकेलेपन की प्रामाणिक अभिव्यक्ति है।
- गजानन माधव मुक्तिबोध की कृति 'नई कवता का आत्मसंघर्ष' एक रचनाकार के भीतरी द्वन्द्व की आलोचना है। मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का 'आत्मसंघर्ष', समाज की आर्थिक-सामाजिक वषमताओं से उसका टकराव और एक बेहतर समाज के निर्माण की बेचैनी प्रमुख हैं। वे 'ज्ञानात्मक संवेदना' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' को कवता का मूल मानते हैं तथा 'फैंटेसी' को जीवन के कठोर यथार्थ को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त औजार स्वीकार करते हैं।